

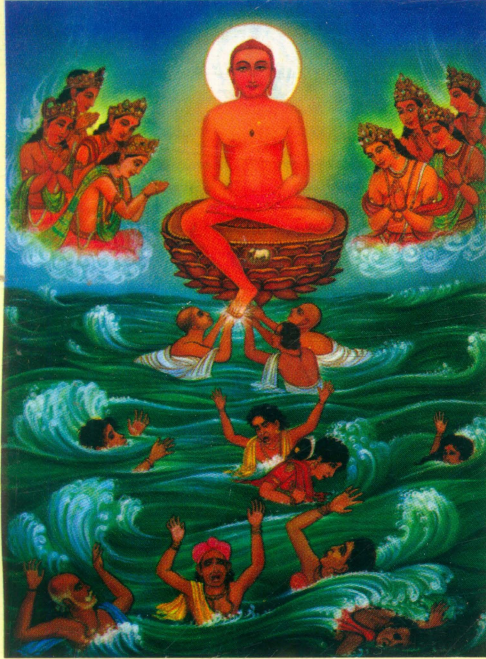
श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXVI

No. II

April-June 2015



भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्घोतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादावालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥

भक्तामरस्तोत्र-1



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

Established : 1937

श्रमण

ŚRAMAᅇA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXVI

No. II

April-June, 2015

Editor

Dr. Shriprakash Pandey

Associate Editors

Dr. Rahul Kumar Singh

Dr. Om Prakash Singh



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

(Established: 1937)

*(Recognized by Banaras Hindu University
as an External Research Centre)*

ADVISORY BOARD

Dr. Shugan C. Jain

New Delhi

Prof. Cromwell Crawford

Univ. of Hawaii

Prof. Anne Vallely

Univ. of Ottawa, Canada

Prof. Peter Flugel

SOAS, London

Prof. Christopher Key Chapple

Univ. of Loyola, USA

Prof. Ramjee Singh

Bheekhampur, Bhagalpur

Prof. Sagarmal Jain

Prachya Vidyapeeth, Shajapur

Prof. K.C. Sogani

Chittaranjan Marg, Jaipur

Prof. D.N. Bhargava

Bani Park, Jaipur

Prof. Prakash C. Jain

JNU, Delhi

EDITORIAL BOARD

Prof. M.N.P. Tiwari

B.H.U., Varanasi

Prof. K. K. Jain

B.H.U., Varanasi

Dr. A.P. Singh, Ballia

Prof. Gary L. Francione

New York, USA

Prof. Viney Jain, Gurgaon

Dr. S. N. Pandey

PV, Varanasi

ISSN: 0972-1002

SUBSCRIPTION

Annual Membership

For Institutions : Rs. 500.00, \$ 50

For Individuals : Rs. 150.00, \$ 30

Life Membership

For Institutions : Rs. 5000.00, \$ 250

For Individuals : Rs. 2000.00, \$ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, \$ 10

Membership fee & articles can be sent in favour of
Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

PUBLISHED BY

Shri Indrabhooti Barar, for Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road,
Karaundi, Varanasi 221005, Ph. 0542-2575890

Email: pvpvaranasi@gmail.com

Theme of the Cover: Bhaktāmara-stotra verse-1 based picture, *Yantra and Mantra*.
With curtesy : Sacitra Bhktāmara-stotra by Sushil Suri

NOTE: The facts and views expressed in the Journal are those of authors
only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

Printed by- Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

सम्पादकीय

‘श्रमण’ के प्रस्तुत अंक में हम जैन आगम और साहित्य पर हिन्दी के चार तथा अंग्रेजी के दो आलेख प्रकाशित कर रहे हैं। इसके साथ ही सम्माननीय पाठकों के लिये जैन कथा साहित्य में विशिष्ट स्थान रखनेवाली, काव्यगुणों से सम्पन्न प्राकृत भाषा में निबद्ध ‘कहायणकोस’ के कर्ता जिनेश्वरसूरि के शिष्य साधु धनेश्वरसूरि द्वारा विरचित ‘सुरसुंदरीचरिअं’ के दशम् परिच्छेद को मूल, उसकी संस्कृत छाया, गुजराती तथा हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित कर रहे हैं। प्राकृत में निबद्ध मूलतः इस प्रेमाख्यान में कुल सोलह परिच्छेद हैं। सभी परिच्छेदों की संस्कृत छाया तथा गुजराती अनुवाद प. पू. आचार्यप्रवर राजयशसूरीश्वरजी के शिष्य प. पू. गणिवर्य श्री विश्रुतयश विजयजी म.सा. ने किया है तथा हिन्दी अनुवाद एवं अंग्रेजी में परिचय लेखन स्वयं सम्पादक ने किया है।

‘श्रमण’ में इस ग्रन्थ का प्रकाशन धारावाहिक के रूप में जनवरी-जून २००४ के अंक से प्रारम्भ हुआ था। जनवरी-मार्च २०१० तक इसके आठ परिच्छेदों का प्रकाशन अनवरत रूप से हुआ किन्तु अपरिहार्य कारणों से यह आगे प्रकाशित नहीं हो पाया। नवम् परिच्छेद की संस्कृत छाया पूर्णतः तैयार न हो पाने के कारण, इस ग्रन्थ के दशम् परिच्छेद से हम पुनः इसका प्रकाशन प्रारम्भ कर रहे हैं जो एकान्तर रूप से प्रत्येक दूसरे अंक में प्रकाशित होता रहेगा। आशा है पाठक ‘सुरसुंदरीचरिअं’ काव्यरस का अब अनवरत रूप से रसास्वादन कर पायेंगे।

इस अंक से हम ‘श्रमण’ के मुखपृष्ठ पर मानतुंगाचार्य (ई.सन् १३०५) कृत ‘भक्तामर स्तोत्र’ के एक श्लोक और उसपर आधारित चित्र तथा पार्श्वपृष्ठ पर उसी श्लोक से सम्बन्धित यन्त्र और मन्त्र देने की शृंखला का प्रारम्भ कर रहे हैं। तदनुसार ही सचित्र ‘भक्तामर स्तोत्र’ के ४४ श्लोकों को क्रमशः प्रत्येक अंक के मुखपृष्ठ पर देने की हमारी योजना है। ‘भक्तामर स्तोत्र’ एक ऐसा बहुप्रचलित एवं पवित्र माना जानेवाला स्तोत्र है जिसे जैनों के सभी सम्प्रदाय समान रूप से स्वीकार एवं पाठस्मरण करते हैं। माना यह जाता है कि इस स्तोत्र के नियमित पाठ से व्यक्ति सभी प्रकार के भय और बीमारियों से त्राण पा जाता है। इस महाचामत्कारिक स्तोत्र के श्लोकों एवं तद् आधारित मन्त्रों के जाप से कैसर जैसे असाध्य रोगों में लाभ पाया गया है। इस स्तोत्र के चिकित्सीय प्रयोग के सन्दर्भ में भारत एवं विदेशों में अनेक शोध चल रहे हैं। प्रो. हर्मन याकोबी ने सन् १८७५ में ‘Jain Method of Curing’ के अन्तर्गत भक्तामरस्तोत्र के महत्त्व को दर्शाया है। आशा है इस स्तोत्र के क्रमशः प्रकाशन से सम्माननीय पाठक लाभान्वित होंगे।

हमारा सदा यही प्रयास रहता है कि ‘श्रमण’ का प्रत्येक अंक पिछले अंकों की तुलना में हर दृष्टि से बेहतर हो और उसमें प्रकाशित सभी आलेख शुद्ध रूप से मुद्रित हों।

सुधी पाठकों से निवेदन है कि आप हमें अपने बहुमूल्य सुझावों/विचारों/आलोचनाओं से अवश्य अवगत कराते रहें ताकि आगामी अंकों में तदनुसार सुधार लाया जा सके।

Our Contributors

१. **प्रो. कमलेश कुमार जैन**
आचार्य एवं अध्यक्ष, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी
२. **डॉ० हेमलता जैन**
जेनरल फेलो, आई. सी. पी. आर., संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास
विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान
३. **डॉ० रजनीश शुक्ल**
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली
४. **डॉ० श्वेता जैन**
पोस्ट डॉक्टरल फेलो, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर, राजस्थान
५. **डॉ० ज्योति सिंह**
पूर्व शोध-छात्रा, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी
6. **Dr. Shriprakash Pandey**
Joint Director, Parshwanath Vidyapeeth
7. **Dr. Jonardon Ganeri**
Recurrent Visiting Professor, Dept. of Philosophy, King's
College, London

Contents

१. कुन्दकुन्द साहित्य में श्रमण और श्रमणाभास 1-9
प्रो० कमलेश कुमार जैन
 २. स्याद्वादकल्पलता में शब्द की द्रव्यत्व सिद्धि 10-16
डॉ० हेमलता जैन
 ३. मुद्राराक्षस में प्रयुक्त प्राकृतों का सार्थक्य 17-28
डॉ० रजनीश शुक्ल
 ४. आगमों में वादविज्ञान 29-34
डॉ. श्वेता जैन
 ५. जैन एवं बौद्ध दर्शन में प्रमा का स्वरूप एवं 35-45
उसके निर्धारक तत्त्व
डॉ० ज्योति सिंह
 6. CONCEPT OF NIKṢEPA (POSITING) 47-69
IN JAINA PHILOSOPHY
Dr. Shriprakash Pandey
 7. THE COSMOPOLITAN VISION OF 70-82
YAŚOVĪJAYA GAṆĪ
Jonardon Ganeri
- स्थायी स्तम्भ
- | | |
|-----------------------------|-------|
| पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार | 83-93 |
| जैन जगत् | 94-95 |
| साहित्य सत्कार | 96 |

सुरसुंदरीचरित्रं

Statement About the Ownership & Other Particulars of the Journal

ŚRAMAᅇA

1. Place of Publication : Parshwanath Vidyapeeth
I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-05
2. Periodicity of Publication : Quarterly.
3. Printer's Name, Nationality and Address : Indrabhooti Barar, Indian.
Printed at The Mahavir Press,
Bhelupur, Varanasi-10
4. Publisher's Name, Nationality and Address : Indrabhooti Barar, Indian, Secretary
Parshwanath Vidyapeeth
I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-05
5. Editor's Name, Nationality and Address : Dr. Shreeprakash Pandey [Editor]
Dr. Omprakash Singh [Associate Editor]
Dr. Rahul Kumar Singh [Associate Editor]
Parshwanath Vidyapeeth
I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-05
6. Name and Address of Individuals who own the Journal and Partners or share-holders holding more than one percent of the total capital. : Indrabhooti Barar, Secretary,
Parshwanath Vidyapeeth
Registered Office
Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road,
Karaundi, Varanasi-05
{Registered under Act XXI as 1860}

I, Indrabhooti Barar hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Dated : 1-4-2015

Signature of the Publisher
S/d Indrabhooti Barar

कुन्दकुन्द साहित्य में श्रमण और श्रमणाभास

प्रो० कमलेश कुमार जैन

जैन-धर्म-दर्शन में भगवत् कृपा के लिए कोई स्थान नहीं है, अपितु प्रत्येक जीव पुरुषार्थ के माध्यम से ही अपने आप को उत्तरोत्तर उन्नत बनाता हुआ श्रमण जीवन को स्वीकार कर अन्त में मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

जीव और कर्म का अनादिकालीन सम्बन्ध है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जब से जीव है तब से कर्म बन्धन है और इसी कर्मबन्धन को क्रमशः काटकर अन्त में कर्मबन्धन से पूर्ण छुटकारा मुक्ति है, मोक्ष है, जीव का निर्वाण है और यह सब सकल चारित्र रूप श्रमणचर्या को धारण किये बिना सम्भव नहीं है। क्योंकि तैंतीस सागर की आयु वाले सर्वार्थसिद्धि के देव भी, जो सतत् तत्त्वचर्चा में तल्लीन रहते हैं, वे भी सकल चारित्र को धारण किये बिना मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यह है श्रमणचर्या का महत्त्व।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् अणुव्रतों का पालन करते हुए श्रावक द्वारा बारह व्रतों का निरतिचार पालन करना, पुनः ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करते हुए महाव्रतों को स्वीकार करना और अट्टाइस मूलगुणों का पालन करना मुनिचर्या का सम्यक् स्वरूप है। इसी मुनिचर्या का सम्यक् रीति से पालन करने वाला व्यक्ति श्रमण संज्ञा से विभूषित होता है।

चत्वारिदण्डक में साधु शब्द से आचार्य परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी और साधु परमेष्ठी- इन तीन को ग्रहण किया गया है। इसलिए साधु और श्रमण- ये दोनों समानार्थक हैं।

श्रमण सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान गोचरी वृत्ति वाले, पवन के समान निस्संग अर्थात् सभी जगह बेरोक-टोक विचरण करने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी अर्थात् सदाकाल तत्त्वों का प्रकाशन करने वाले, सागर के समान गम्भीर, मेरु के समान अकम्प (अडोल), चन्द्रमा के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभापुञ्ज युक्त, क्षिति के समान बाधाओं को सहने वाले, सर्प के समान अनियत वसतिका में रहने वाले, आकाश के समान निरालम्बी (निलैप) और सदाकाल परमपद का अन्वेषण करने वाले होते हैं।^९

2 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 2, अप्रैल-जून, 2015

आचार्य सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पू में गुणों के आधार पर श्रमण के क्षपणक आदि तेईस नामों का उल्लेख किया है,² जिनमें श्रमण भी एक है। उनके अनुसार तपश्चरण रूप श्रम के कारण मुनिराज को श्रमण कहते हैं।

चूंकि तीर्थङ्कर भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा उपदिष्ट वाणी को गौतम आदि गणधरों ने गूँथा है और तदनन्तर उसी को आधार बनाकर आचार्य कुन्दकुन्द ने आगम तुल्य ग्रन्थों का सृजन किया है और सोलहवीं शती के बहुश्रुत विद्वान् आचार्य श्रुतसागरसूरि ने उन्हें कालिकाल सर्वज्ञ कहा है³, अतः एक दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द का भगवान् की वाणी से सीधा सम्बन्ध है और सीधा सम्बन्ध होने से उनके ग्रन्थों में जिनेन्द्र वाणी का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है, इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार यहाँ श्रमण के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है। क्योंकि श्रामण्य पद धारण किये बिना न तो दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है और न ही शाश्वत सुख के आधारभूत निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का स्पष्ट कथन है कि यदि दुःखों से छुटकारा पाना चाहते हो तो श्रमण पद को स्वीकार करो।⁴ क्योंकि यह श्रमण रूप जैन लिङ्ग अपुनर्भव का मूल कारण है।⁴

बाह्यलिङ्ग और अन्तरङ्गलिङ्ग का वर्णन करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का कहना है कि जो सद्योजात बालक के समान निर्विकार निर्ग्रन्थ रूप के धारण करने से होता है, जिसमें शिर और दाढ़ी-मूँछ के बाल उखाड़ दिये जाते हैं, जो शुद्ध है, निर्विकार है, हिंसादि पापों से रहित है और शरीर की सम्भाल तथा सजावट से रहित है वह बाह्यलिङ्ग है तथा मूर्च्छा - पर पदार्थों में ममत्व परिणाम और आरम्भ से रहित है, उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त है, पर की अपेक्षा से दूर है एवं मोक्ष का कारण है वह अन्तरङ्गलिङ्ग अर्थात् भावलिङ्ग है।⁵

इसी को और स्पष्ट करते हुये पं० पन्नलाल साहित्याचार्य लिखते हैं कि- जैनागम में बहिरङ्गलिङ्ग और अन्तरङ्गलिङ्ग दोनों ही लिङ्ग परस्पर सापेक्ष रहकर ही कार्य के साधक बतलाये गये हैं। अन्तरङ्गलिङ्ग के बिना बहिरङ्ग केवल नट के समान वेष मात्र है। उससे आत्मा का कुछ भी कल्याण साध्य नहीं है और बहिरङ्गलिङ्ग के बिना अन्तरङ्गलिङ्ग का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि जब तक बाह्य परिग्रह का त्याग होकर यथार्थ निर्ग्रन्थ अवस्था प्रकट नहीं हो जाती तब तक मूर्च्छा या आरम्भ रूप आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग नहीं हो सकता है और जब तक हिंसादि पापों का अभाव तथा शरीरासक्ति का भाव दूर नहीं हो जाता तब तक उपयोग और योग की सिद्धि नहीं

हो सकती है। इस प्रकार उक्त दोनों लिङ्ग ही अपुनर्भव-फिर से जन्म धारण नहीं करना अर्थात् मोक्ष के कारण है।^{१०}

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने स्पष्ट लिखा है कि यदि आप मोक्षाभिलाषी हैं तो बन्धुवर्ग से पूछकर ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप और वीर्याचार रूप पञ्चाचार को श्री गुरु से ग्रहण करें।^{११} श्रमण के जो द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग कहे गये हैं, उनमें श्रमण का यथाजात बाह्य रूप द्रव्यलिङ्ग है और उसकी अन्तरङ्ग शुद्धि भावलिङ्ग है^{१२} -ये दोनों लिङ्ग ही मोक्ष प्राप्ति के उत्कृष्ट साधन हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने श्रमण का लक्षण करते हुये प्रवचनसार में लिखा है कि-

**सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ।।^{१०}**

अर्थात् पदार्थों और सूत्रों को अच्छी तरह जानने वाले, संयम और तप से युक्त, राग से रहित, सुख और दुःख में समान भाव रखने वाले शुद्धोपयोगी श्रमण हैं।

उपयोग तीन प्रकार का है- अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने उसे ही श्रमण कहा है जो शुद्धोपयोगी है। क्योंकि शुद्ध के पास ही श्रामण्य है, शुद्ध के पास ही दर्शन और ज्ञान है, शुद्ध का ही निर्वाण होता है और शुद्ध ही सिद्ध स्वरूप है।

**सुद्धस्स य सामण्णं भणिदं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सुद्धो णमो तस्स।।^{११}**

यद्यपि शास्त्रों में दो प्रकार के श्रमणों का उल्लेख है- एक शुद्धोपयोगी श्रमण और दूसरे शुभोपयोगी श्रमण किन्तु इनमें शुद्धोपयोगी श्रमण निरास्रव हैं और शेष अर्थात् शुभोपयोगी सास्रव हैं।^{१२}

बिना सम्यक्तव के शुद्धोपयोग सम्भव नहीं है और मोक्षमार्ग में सम्यक्तव के बिना शुभोपयोग की भूमिका भी कार्यकारी नहीं है। क्योंकि पापारम्भ को त्यागकर सम्यक्तव के बिना शुभ चरित्र में उद्यमी होता हुआ जीव यदि मोह आदि को नहीं छोड़ता है तो वह जीव अपने शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है।^{१३} शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये मोह का त्याग अवश्यम्भावी है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि-

**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयंतेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।^{१४}**

4 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 2, अप्रैल-जून, 2015

अर्थात् जो द्रव्य, गुण और पर्यायों के माध्यम से अरहन्त भगवान् को जानता है, वह अपने को जानता है तथा उसका मोह निश्चय से विनाश को प्राप्त होता है। और जिसका मोह नष्ट हो जाता है वह शुद्ध आत्म तत्त्व को सम्यग् रूपेण प्राप्त कर लेता है।^{१५} इसी प्रक्रिया को अपनाकर सभी अरहन्त भगवान् कर्मों का नाशकर मुक्ति को प्राप्त हुये हैं।^{१६} यह प्रक्रिया कोई नवीन नहीं है, अपितु यह सनातन काल से चली आ रही है।

श्रमण के द्वारा जिन अट्टाइस मूल गुणों का पालन करना नितान्त आवश्यक है, वे इस प्रकार हैं- पञ्च महाव्रतों का पालन, पञ्च समितियों का पालन, पञ्चेन्द्रिय निरोध, केशलौच, षडावश्यकों का पालन, अचेलपना, अस्नानव्रत, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े होकर भोजन करना, एक बार भोजन करना-ये अट्टाइस प्रकार के मूलगुण हैं। इन मूलगुणों में प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है। मास, पक्ष आदि से दीक्षा को कम करके पुनः चारित्र की उपस्थापना करना छेदोपस्थापना है।

वदसमिदिंदियरोधो लोचो अवसयमचेलमणहाणं।

खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।।

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।

तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि।^{१७}

श्रमण के पास बाल के अग्रभाग के बराबर भी बाह्य परिग्रह का निषेध किया गया है।^{१८} यद्यपि श्रमण के पास एक मात्र देह ही होती है, किन्तु वह उस देह में भी ममत्व रहित परिकर्म वाला होता है। साथ ही उस देह को तप में लगाकर वह अपनी शक्ति को छिपाता नहीं है।^{१९}

यहाँ अचेल का अर्थ है पाँच प्रकार के वस्त्रों का त्याग।^{२०} यद्यपि वस्त्रों का त्याग श्रमण के द्रव्यलिङ्ग को ही प्रकट करता है, किन्तु यहाँ श्रमण का भावलिङ्गी होना भी अपेक्षित है। क्योंकि भाव रहित श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप-इन चार आराधनाओं को प्राप्त कर लेता है और भाव रहित श्रमण चिरकाल तक दीर्घ संसार में भ्रमण करता है।^{२१}

भाव श्रमण कल्याणों की परम्परा से युक्त होकर सुखों को प्राप्त करते हैं अर्थात् तीर्थङ्कर होकर गर्भ, जन्म आदि कल्याणकों से युक्त होकर परम सुख को प्राप्त करते हैं और द्रव्य श्रमण मनुष्य, तिर्यञ्च तथा कुदेव योनियों में जन्म लेकर दुःखों को प्राप्त करते हैं।^{२२}

यहाँ भाव श्रमण का अर्थ सम्यग्दृष्टि श्रमण से है और द्रव्य श्रमण का अर्थ मिथ्यादृष्टि श्रमण से है। क्योंकि भाव श्रमण ही प्रथम लिङ्ग है। द्रव्यलिङ्ग परमार्थ नहीं है अर्थात् भाव के बिना द्रव्यलिङ्ग परमार्थ की सिद्धि करने में समर्थ नहीं है।^{२३}

जो साधु शरीर आदि परिग्रह से रहित है, मान कषाय से पूर्णतः मुक्त है तथा जिसकी आत्मा आत्म स्वरूप में तल्लीन है, वस्तुतः वही श्रमण भावलिङ्गी है।^{२४} बाह्य परिग्रह का त्याग करना तथा समस्त शास्त्रों का पढ़ना भावरहित जीवों के लिये निरर्थक है।^{२५}

भाव श्रमण अर्थात् सम्यग्दृष्टि मुनि सुखों को प्राप्त करता है और द्रव्य श्रमण अर्थात् मिथ्यादृष्टि मुनि दुःखों को प्राप्त करता है। इस प्रकार भाव और द्रव्य श्रमण के क्रमशः गुण और दोषों को जानकार भाव श्रमण होने का प्रयत्न करना चाहिए।^{२६}

श्रमण को आगमचक्खू^{२७} कहा गया है। अर्थात् श्रमण की प्रवृत्ति आगमानुसारी होती है। वह आगम के प्रति समर्पित होता है। क्योंकि आगमानुसार की गई श्रमण की प्रवृत्ति श्रेष्ठ कही गई है। श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्रता पदार्थों के निश्चय से आती है। पदार्थों के प्रति निश्चय आगम से होता है। अतः आगम में कही गई श्रमण की प्रवृत्ति ही श्रेष्ठ है।^{२८}

श्रमणचर्या स्वीकार करने का मुख्य उद्देश्य कर्मों का पूर्णरूपेण क्षय करके मुक्ति को प्राप्त करना है, किन्तु जब श्रमण आगम से रहित होता हुआ न अपने को जानता है, न ही दूसरे को जानता है और जब वह स्व-पर पदार्थों को नहीं जानता है तो वह कर्मों का क्षय कैसे करेगा? अर्थात् ऐसी स्थिति में वह श्रमण कभी भी कर्मों का क्षय नहीं कर सकेगा। कर्मों का क्षय नहीं करेगा तो मुक्ति को प्राप्त नहीं होगा तथा संसार-सागर में निरन्तर भ्रमण करते हुये दुःख प्राप्त करता रहेगा।

**आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।**^{२९}

आगमानुसारी प्रवृत्ति करने से श्रमण पर पदार्थों के प्रति तटस्थ हो जाता है। इसलिये वह शत्रु और मित्र समूह में समान दृष्टि वाला होता है। सुख और दुःख की स्थिति में वह समान हो जाता है। वह किसी के द्वारा प्रशंसा करने पर फूलता नहीं है और निन्दा करने पर दुबला नहीं होता है। उसे मिट्टी के ढेले और स्वर्ण में कोई अन्तर दिखलाई नहीं देता है, अपितु उसकी दृष्टि में सभी पुद्गल की पर्यायें होती हैं। जीवन अथवा मरण में वह समभाव वाला होता है।^{३०}

जो सदा ज्ञान और दर्शन आदि में प्रतिबद्ध रहता है तथा मूल गुणों के पालन में प्रयत्नशील रहता है, वह परिपूर्ण श्रमण होता है।^{३१} श्रमण की एक विशेषता यह

6 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 2, अप्रैल-जून, 2015

भी है कि वह आहार में, उपवास में, निवास में, गमन में, उपकरण में, विकथाओं में तथा श्रमण में भी आसक्ति नहीं करता है।³² जीव मरे या जिये सावधानी न वरतने पर निश्चित रूप से श्रमण को हिंसा का दोष लगता है, किन्तु समितियों के पालन में प्रयत्नशील होने पर श्रमण को पाप बन्ध नहीं होता है।³³

यदि निरपेक्ष त्याग न हो तो भावों की विशुद्धि नहीं होती है और चित्त में विशुद्धि न होने पर कर्मों का क्षय नहीं होता है।³⁴ जिस वस्तु के ग्रहण करने और विसर्जन न करने में दोष न लगे, उसी को लेकर श्रमण काल और क्षेत्र को जानकर प्रवृत्ति करे।³⁵ जो वस्तु अप्रतिसिद्ध है, असंयत जनों के द्वारा प्रार्थनीय नहीं है, मूर्च्छा आदि की प्रवृत्ति कराने वाली नहीं है, उसे ही श्रमण को अल्प मात्रा में ग्रहण करना चाहिये।³⁶

तीन वर्णों में से एक वर्ण वाला, रोगरहित, तप को करने में समर्थ, वयस्क, प्रशस्त सुख वाला, अपवाद रहित व्यक्ति इस निर्ग्रन्थ लिङ्ग को ग्रहण करने योग्य है।³⁷ श्रमण इस लोक में निरपेक्ष और परलोक में अभिलाषा रहित तथा उचित आहार-विहार करता हुआ कषाय रहित होता है।³⁸ श्रमण बाह्य अन्नाहार का ग्रहण एषणा दोष रहित करता है, अतः वह युक्त आहार ग्रहण करने पर भी निराहारी होता है।³⁹

श्रमण चाहे बालक हो या वृद्ध, थका हुआ हो, रोगी हो फिर भी वह करने योग्य चारित्र्य इस प्रकार करे कि उसके मूलगुणों का उच्छेद न हो।⁴⁰ यदि श्रमण आहार-विहार में देश, काल, श्रम, शक्ति और उपधि को अच्छी तरह जानकर ऐसी प्रवृत्ति करता है, जिसमें अल्प सावध हो तो उसके संयम का छेद नहीं होता है।⁴¹ इस प्रकार श्रमण की चर्या मोक्षमार्ग में कार्यकारी है।

श्रमण चर्या ग्रहण करने का उद्देश्य संसार-सागर से पार उतरकर निर्वाण को प्राप्त करना है और निर्वाण शुद्धोपयोग के बिना सम्भव नहीं है। शुद्धोपयोग में आत्मभाव ही प्रमुख है। इसमें परभाव के लिये किञ्चित् भी स्थान नहीं है। अतः अपनी शुद्धात्मा में स्थिरचित्त होकर निर्वाण प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इसके बिना अन्य कोई उपाय नहीं है।

अब यहाँ श्रमणाभास के स्वरूप पर विचार करते हैं। अन्तरङ्ग में चित्त की शुद्धि न होना और ऊपर से श्रमण जैसा वेष धारण करना श्रमणाभास है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने श्रमणाभास का लक्षण करते हुये लिखा है कि-

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपउत्तो वि।
जदि सहहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ।।⁴²

अर्थात् सूत्र, संयम और तप से संयुक्त होने पर भी यदि व्यक्ति जिनोक्त आत्मप्रधान पदार्थों में श्रद्धान नहीं करता है तो वह श्रमण नहीं है, अपितु बाह्य में श्रमण जैसा आचरण अथवा वेष धारण करने के कारण श्रमणाभास है।

इसी को स्पष्ट करते हुये आचार्य अमृतचन्द सूरि ने लिखा है कि 'आगमज्ञोऽपि संयतोऽपि तपःस्थोऽपि जिनोदितमनन्तार्थनिर्भरं विश्वं स्वेनात्मना ज्ञेयत्वेन निष्पीतत्वादात्मप्रधानमश्रद्धानः श्रमणाभासो भवति'।^{४३}

अर्थात् आगम का ज्ञाता होने पर भी, संयत होने पर भी, तप में स्थित होने पर भी जिनोक्त अनन्त पदार्थों से भरे हुये विश्व को अपने आत्मा द्वारा ज्ञेय रूप से जानता है, इस कारण उस विश्व में आत्म प्रधान है, जो जीव उसका श्रद्धान नहीं करता है वह श्रमणाभास है।

जिसकी दृष्टि आगम का अनुसरण नहीं करती है, उसके संयम नहीं होता है और जिसके संयम नहीं होता है वह श्रमण नहीं होता है।^{४४} यदि भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित पदार्थों में श्रद्धान नहीं है तो मात्र आगम के ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती है और यदि पदार्थों के प्रति श्रद्धान है तो भी असंयत अर्थात् चारित्र रहित व्यक्ति के मुक्ति सम्भव नहीं है।^{४५}

जिसकी देह आदि पदार्थों में परमाणु मात्र भी मूर्च्छा है, ऐसा सर्वागम का ज्ञाता भी मुक्ति को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है।^{४६}

यदि श्रमण अन्य द्रव्य का आश्रय करके अज्ञानी होता हुआ मोह करता है, राग करता है, अथवा द्वेष करता है तो वह विविध कर्मों का बन्धन करता है।^{४७}

जिसने सूत्र के अर्थ और पदों का निश्चय किया है, जिसने कषायों का शमन किया है और अधिक तप करने वाला भी है, किन्तु यदि लौकिक जनों का संसर्ग नहीं छोड़ा है तो वह असंयत ही है।^{४८} इसी प्रकार यदि कोई निर्ग्रन्थ मुद्रा को ग्रहण कर लौकिक कार्यों में लग जाता है तो वह संयत तप युक्त होने पर भी लौकिक ही है, अलौकिक नहीं है।^{४९}

वैयावृत्ति में उद्यत हुआ श्रमण यदि जीवों को कष्ट पहुँचाता है तो वह श्रमण नहीं है।^{५०}

जो श्रमण गुणों में हीन होने पर भी 'मैं श्रमण हूँ' ऐसा मानकर गर्व करके गुणों में अधिक श्रमण से विनय की इच्छा करता है तो वह श्रमण अनन्त संसारी है।^{५१} यदि

8 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 2, अप्रैल-जून, 2015

श्रामण्य में अधिक गुण वाले मुनि क्रियाओं में हीनगुण वाले मुनि के साथ प्रवृत्ति करते हैं तो वह परस्पर में एक जैसा होकर प्रभ्रष्ट चारित्र वाले हो जाते हैं।^{५२}

भगवान् की आज्ञा में चलने वाले श्रमण को देखकर जो द्वेषभाव से उनका अपवाद करता है और विनय आदि क्रियाओं में नहीं लगता है तो वह निश्चय से चारित्र रहित है।^{५३}

इस प्रकार श्रमण वेषधारी जो व्यक्ति किसी भी प्रकार से शुद्धोपयोगी श्रमण से विपरीत क्रिया करता है वह श्रमण न होकर श्रमणाभासी है। उपर्युक्त प्रकार से शुद्धोपयोगी श्रमण एवं शुद्धोपयोग से रहित श्रमणाभासी के स्वरूप को जानकर हमें विवेकपूर्वक कार्य करते हुये अपना लक्ष्य निश्चित करना चाहिये।

सन्दर्भ :

१. रत्नत्रय पारिभाषिक शब्दकोष, पृष्ठ ५०५-५०६
२. यशस्तिलकचम्पू, पृष्ठ ४११-४१२ (द्रष्टव्य, रत्नत्रय पारिभाषिक शब्दकोष, पृष्ठ ५०५-५०६)
३. लिंगप्राभृत और शीलप्राभृत को छोड़कर शेष छह पाहुडों की अन्तिम गाथा की प्रशस्ति में उल्लिखित ।
४. प्रवचनसार, गाथा २१४
५. वही, गाथा २१९
६. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दभारती, गाथा ३/५-६ का हिन्दी अनुवाद
७. वही, गाथा ३/५-६
८. प्रवचनसार, गाथा २१५
९. वही, गाथा २१७-२१८
१०. वही, गाथा १४
११. वही, गाथा ३१०
१२. वही, गाथा २८४
१३. वही, गाथा ८३
१४. वही, गाथा ८६
१५. वही, गाथा ८७
१६. वही, गाथा ८८
१७. वही, गाथा २२१-२२२
१८. सुत्तपाहुड, गाथा १७
१९. प्रवचनसार, गाथा २५८
२०. भावपाहुड, गाथा ९७
२१. वही, गाथा ९७

२२. वही, गाथा ९८
२३. वही, गाथा २
२४. वही, गाथा ५६
२५. वही, गाथा ८७
२६. वही, गाथा १२५
२७. प्रवचनसार, गाथा २६७
२८. वही, गाथा २६५
२९. वही, गाथा २६६
३०. वही, गाथा २७५
३१. वही, गाथा २२७
३२. वही, गाथा २२८
३३. वही, गाथा २३०
३४. वही, गाथा २३५
३५. वही, गाथा २४०
३६. वही, गाथा २४१
३७. वही, गाथा २५२
३८. वही, गाथा २५५
३९. वही, गाथा २५७
४०. वही, गाथा २६३
४१. वही, गाथा २६४
४२. वही, गाथा ३०२
४३. वही, गाथा ३०२ की वृत्ति
४४. वही, गाथा २६९
४५. वही, गाथा २७०
४६. वही, गाथा २७२
४७. वही, गाथा २७७
४८. वही, गाथा २७९
४९. वही, गाथा २८०
५०. वही, गाथा २८९
५१. वही, गाथा ३०३
५२. वही, गाथा ३०४
५३. वही, गाथा ३०६

स्याद्वादकल्पलता में शब्द की द्रव्यत्व सिद्धि

डॉ० हेमलता जैन

भारतीय दार्शनिक परम्परा में न्याय-वैशेषिक दर्शन शब्द को आकाश के गुण के रूप में प्रतिपादित करता है। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक शब्द को गुण मानते हैं, जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आत्मा, काल, दिक् एवं मन इन आठ द्रव्यों में नहीं रहता, अतः परिशेषानुमान से उसे आकाश का गुण स्वीकार किया गया है। जैन दार्शनिक शब्द को गुण नहीं अपितु द्रव्य मानते हैं।

२०६६ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने शब्द को पुद्गल द्रव्य बताया है।^१ आज विज्ञान भी शब्द के पौद्गलिक स्वरूप को स्वीकार करता है। इस अन्तराल में शब्द-स्वरूप के विषय में विभिन्न मत प्रचलित रहे हैं। जैन आचार्यों ने शब्द को ध्वनि की दृष्टि से पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल द्रव्य और अर्थबोध की दृष्टि से ज्ञानात्मक माना है। वैज्ञानिक प्रयोगों ने भी शब्द के पौद्गलिक स्वरूप को सिद्ध किया है। जैन परम्परा में आगम साहित्य से लेकर सिद्धसेन, समन्तभद्र, मल्लवादी, हरिभद्रसूरि, भट्ट अकलंक, अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजय आदि के द्वारा विरचित ग्रन्थों में इस विषय पर पर्याप्त चिन्तन हुआ है।

यह शोधालेख जैनाचार्य हरिभद्रसूरि (७००-७७०ई०) विरचित शास्त्रवार्त्तासमुच्चय तथा उस पर उपाध्याय यशोविजय (१७-१८वीं शती) कृत स्याद्वादकल्पलता टीका पर केन्द्रित है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने शास्त्रवार्त्तासमुच्चय के १०वें स्तवक में शब्द-स्वरूप के विषय में वेदवादी, मीमांसक, बौद्ध, नैयायिक आदि के मतों को समुचित रीति से प्रस्तुत कर उसका तार्किक निरसन किया है। इस शोधालेख में मात्र न्याय-वैशेषिकों की मान्यता का खण्डन कर शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि की गई है।

नैयायिकों के मतों का खण्डन करते हुए उपाध्याय यशोविजयजी ने नैयायिकों द्वारा मान्य स्पर्श, संयोग, संख्या, अल्पत्व परिमाण, महत् परिमाण आदि गुणों और क्रिया के आधार पर शब्द का द्रव्यत्व सिद्ध किया है। मैंने नैयायिकों के शब्द-स्वरूप विषय से सम्बद्ध मतों को पूर्वपक्ष में रखकर उपाध्याय यशोविजय के तर्कों को उत्तरपक्ष के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही स्वयं के कुछ अनुभव भी साझा किए हैं।

पूर्व पक्ष : न्याय-वैशेषिक का तर्क

शब्द को अनित्य एवं द्रव्य स्वीकार करने वाले जैनों के सम्बन्ध में नैयायिक कहते हैं -

वर्णो न नित्य इति तावदवादि युक्तं, द्रव्यत्वमस्य पुनरर्थवशाद् यदुक्तम्।
व्योमैकवर्तिनि गुणे न विराजते तद्, गुञ्जैव राजवनितामणिहारमध्ये।।^१

अर्थात् वर्ण (शब्द) नित्य नहीं है, यह युक्तिसंगत है, पर वर्ण का द्रव्य स्वरूप असंगत है। जैसे- राजरानी के मणिमयहार के बीच गुञ्जा का ग्रंथन शोभा प्राप्त नहीं करता है वैसे ही एक मात्र आकाश के गुण को द्रव्य मध्य गिन लेना अशोभनकारी है। अतः नैयायिक शब्द के अद्रव्यत्व पक्ष में निम्न कथन करते हैं-

१. उदयनाचार्य कहते हैं- 'शब्दो गुणः, बहिरिन्द्रिय व्यवस्थापकत्वात्, रूपादिवत्'।^२ बहिरिन्द्रिय की व्यवस्था करने वाला गुण होता है। जैसे रूप का ग्रहण जिस इन्द्रिय से होता है वह चक्षु है, रस का ग्रहण जिससे होता है, वह रसना है। इसी तरह शब्द का ग्रहण जिससे हो वह श्रोत्र इन्द्रिय है। रूप, रसादि गुणों के समान ही शब्द भी श्रोत्र इन्द्रिय का व्यवस्थापक होने से गुण है, द्रव्य नहीं।

२. नैयायिक दूसरा तर्क देते हैं कि यदि शब्द द्रव्य हो तो श्रोत्र से उसका ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि श्रोत्र द्रव्य का ग्राहक नहीं है।

३. नैयायिकों का तीसरा तर्क है कि शब्द एक मात्र द्रव्य आकाश में आश्रित है और जो द्रव्य में आश्रित होता है, वह द्रव्य नहीं हो सकता है।

उत्तर पक्ष : उपाध्याय यशोविजय कृत तार्किक खण्डन

नैयायिकों की शब्द के सम्बन्ध में की गई उक्त स्थापना का निरसन टीकाकार निम्न प्रकार से करते हैं-

१. बहिरिन्द्रिय का व्यवस्थापक होने से जो शब्द को गुण कहा गया है, वह असंगत है, क्योंकि रूपादि की द्रव्य से रहित स्वतंत्र सत्ता असिद्ध है। अतः नैयायिकों का दृष्टान्त असिद्ध है।^३ दूसरी बात यह है कि शब्द का ग्रहण चक्षु आदि अन्य इन्द्रियों से नहीं होता, उसका भिन्न इन्द्रिय श्रोत्र से ग्रहण होने के कारण शब्द को गुण मानने में गौरव होता है, जो एक दोष है। इससे न्याय-वैशेषिकों की यह मान्यता कि श्रोत्रेन्द्रिय द्रव्य का अग्राहक होता है, खण्डित हो जाती है।

२. दूसरे तर्क के निरसन में टीकाकार कहते हैं कि शब्द के द्रव्यत्व का अनुमान शब्द के अद्रव्यत्व अनुमान से बलवान है।

'शब्दो द्रव्यम्, क्रियावत्त्वात् शरवत्'^४ इस अनुमान द्वारा शब्द का द्रव्यत्व सिद्ध है, क्योंकि जो क्रियावान् होता है वह द्रव्य होता है।

नैयायिकों द्वारा शब्द को निष्क्रिय (क्रियारहित) मानने पर श्रोत्र द्वारा स्व से असम्बद्ध का ग्रहण होगा जिससे उसमें अप्राप्यकारित्व की आपत्ति होने लगेगी और यदि शब्द के साथ श्रोत्र के सम्बन्ध की कल्पना करें तो दो प्रकार की स्थितियाँ बनती हैं, यथा-

१. प्रथम यह कि श्रोत्र शब्द के जन्म स्थान में पहुँचकर शब्द के साथ सम्बन्ध स्थापित करे।

२. द्वितीय यह कि शब्द स्वयं श्रोत्र स्थान में जाकर उससे सम्बन्ध स्थापित करे।

दोनों ही पक्ष समीचीन नहीं हैं, क्योंकि प्रथम पक्ष में श्रोत्र आकाश स्वरूप होने से निष्क्रिय (क्रियारहित) है और द्वितीय पक्ष में शब्द की सक्रियता (क्रियायुक्तता) स्वयमेव स्वीकृत हो जाती है। अतः शब्द द्रव्य है, यह सिद्ध होता है।

यहाँ पर यह कहना उपयुक्त होगा कि शब्द ध्वनि प्रायः चेतन और अचेतन दोनों को असाधारण रूप से प्रभावित करती है। स्थूल व श्रव्य ध्वनियों का प्रभाव तो दृष्टिगोचर होता है, पर अश्रव्य और सामान्य ध्वनि तरंगें भी कोई कम प्रभावित नहीं करती हैं। इसीलिए आज डाक्टर इन्फ्रासोनिक और अल्ट्रासोनिक^६ ध्वनि-प्रवाह से रोगों का निदान करते हैं। इन्फ्रासोनिक शब्दों को एक शक्ति के रूप में प्रयुक्त करके रक्त संचार की गति को तेज किया जाता है, सड़े-गले ऊतकों को काटकर बाहर निकालने में, कीड़ों को मारने आदि में सहायता ली जाती है, लकड़ी तथा धातुओं की मजबूती परखी जाती है। इस तरह जब एक्स-रे द्वारा खींचें गए फोटोग्राफ अस्पष्ट आने लगे तब अल्ट्रासाउण्ड शब्द सामर्थ्य ने इस कार्य को सरल बना दिया। अति सूक्ष्म कम्पनों को जब विद्युत आवेश प्रदान किया जाता है तो भेदन क्षमता इतनी बढ़ जाती है कि वह सघन से सघन वस्तु के परमाणुओं का भेदन करके उसकी आन्तरिक रचना का स्पष्ट फोटोग्राफ प्रस्तुत कर देता है। अल्ट्रासाउण्ड के द्वारा चिकित्साशास्त्री नित नवीन सफलताएँ अर्जित कर रहे हैं। चिकित्सा जगत् में शब्द के सूक्ष्मतम प्रयोगों की उपलब्धियाँ शब्द के द्रव्यत्व को सिद्ध करती हैं। अतः महावीर द्वारा उद्घाटित शब्द द्रव्यता प्रामाणिक है।

३. तीसरी आपत्ति के सम्बन्ध में टीकाकार स्पर्श, वेग, अल्पत्व-महत्त्व, संयोग, संख्या आदि गुणों के आधार पर शब्द की द्रव्यता सिद्ध करते हैं। यथा-

क. स्पर्श गुण द्वारा शब्द की द्रव्यत्व सिद्धि : शब्द में स्पर्श की सत्ता सिद्ध है, क्योंकि कांसे के बर्तन आदि के ध्वनि से सम्बन्ध होने पर कर्णशष्कुली में अभिघात होता है। चूंकि अभिघात स्पर्श एवं वेग सापेक्ष क्रिया से उत्पन्न होता है, अतः शब्द में स्पर्श गुण सिद्ध है।^७

शब्दायमान ब्रह्माण्ड के सभी सूक्ष्म और स्थूल हम सभी को स्पर्श गुण द्वारा प्रभावित करते ही हैं। मुख से निकला प्रत्येक शब्द हमारे शरीर को चलायमान कर देता है। फलतः हमारी सूक्ष्म नाड़ियाँ झंकृत हो उठती हैं। शब्द की स्पर्शता के सम्बन्ध में मैंने भी कुछ अनुभव किया है, जिससे शब्द का स्पर्श गुण सिद्ध होता है। वे कुछ अनुभव इस प्रकार हैं-

१. यदि शब्द में स्पर्श गुण न हो तो पेड़-पौधों को संगीत सुनाए जाने पर उनके विकास में अनुकूल प्रभाव नहीं हो। किन्तु प्रयोगों के आधार पर यह देखा गया है कि श्रोत्रेन्द्रिय से रहित पेड़-पौधों पर संगीत का अनुकूल प्रभाव होता है।

२. यदि शब्द में स्पर्श गुण नहीं हो तो ध्वनि कर्कश या मृदु प्रतीत नहीं हो। शब्द द्रव्य है तथा उसमें कर्कश, मृदु आदि स्पर्श-गुण रहते हैं।

३. मन्दिरों और घरों में अशुभ पुद्गलों के निवारणार्थ लोग मंत्रों, भजनों का सतत प्रयोग करते हैं। इसमें भी शब्द का स्पर्श गुण सिद्ध होता है।

४. Masaru Emoto was a Japanese author whose early work explored his theory that "Water could react to positive thoughts and words, and that polluted water could be made pure through prayer and positive visualization."^८

मसेरू लेखक ने अपनी पुस्तक 'Hidden massage in water' में पानी के प्रयोग के बारे में लिखा है। इस प्रयोग में उन्होंने दो गिलासों को पानी से भरा। तत्पश्चात् एक गिलास को सामने रखकर अभद्र शब्दों का प्रयोग किया और उसे फ्रिज में जमने के लिए रख दिया। इस तरह दूसरी गिलास के सम्मुख प्रशंसा भरे शब्दों का प्रयोग किया और उसे भी फ्रिज में रख दिया। दूसरे दिन जब दोनों गिलास को देखा तो पाया कि अभद्र शब्दों वाले गिलास में बर्फ की आकृति बदसूरत है और प्रशंसात्मक शब्दों वाली गिलास में बर्फ की बहुत ही सुन्दर आकृतियाँ बनी हैं। यह प्रयोग लेखक ने अनेक बार किया तथा प्रत्येक बार परिणाम एक जैसा ही रहा। अतः इस प्रयोग से जलीय जीवन की सिद्धि के साथ श्रोत्रेन्द्रिय रहित जल पर शब्दों की स्पर्शता सिद्ध होती है। इस पुस्तक में लेखक कहता है कि गन्दे पानी को प्रार्थना और सकारात्मक दृष्टिकोण से शुद्ध किया जा सकता है। यह जल शुद्धिकरण का अहिंसात्मक उपाय है।

नैयायिक शब्द की स्पर्शता पर एक शंका करते हुए कहते हैं कि स्पर्शवान शब्द द्रव्य जब कर्णछिद्र में प्रवेश करता है तब श्रोत्रद्वार पर लगे कर्पासतूल को वायु प्रवेश की

तरह धक्का लगना चाहिए। टीकाकार उत्तर देते हैं कि स्पर्शवान् द्रव्य से धक्का लगे, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि जैसे धूम स्पर्श से चक्षु में पीड़ा होती है पर नेत्र के बाल न तो हिलते हैं और न ही उन्हें कोई धक्का लगता है। उसी तरह शब्द स्पर्श से श्रोत्रस्थ कर्पासतूल को धक्के से बाधित होना आवश्यक नहीं है।

टीकाकार यशोविजय यहाँ स्वयं शंका उठाकर कहते हैं कि यदि कोई यह कहे कि शब्द की सहचारी वायु से कर्ण का अभिघात होता है, अतः शब्द में स्पर्श गुण की सिद्धि नहीं होती है। इस शंका के समाधान में वे कहते हैं कि यह अभिघात-विशेष शब्द की तीव्रता का अनुविधायी है, वायु का नहीं। कर्णरूप अवयव का अभिघात शब्द जन्य होने से शब्द स्पर्शवान् है, सिद्ध होता है।^{१९}

२. वेग-संस्कार गुण से शब्द की द्रव्यत्व सिद्धि : न्याय-वैशेषिकों के अनुसार वेग नामक संस्कार गुण जिसमें रहता है वह द्रव्य होता है। उनकी इस मान्यता के आधार पर उपाध्याय यशोविजय ने शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि की है। वे कहते हैं कि धूम और प्रभा की तरह शब्द का स्पर्श अनुद्भूत होता है। शब्द में अनुद्भूत स्पर्श मानने पर भी कर्ण का अभिघात होता है, क्योंकि अभिघात वेगवान् निबिडावयव द्रव्य की क्रिया से होता है, उसमें स्पर्श की अपेक्षा नहीं है।^{२०} जैसे पिशाच के पादप्रहार में वेगवान् निबिडावयव होने से अभिघात होता है, ठीक वैसे ही शब्द में वेगात्मक गुण से अभिघात होता है। अतः वेगात्मक गुण से भी शब्द की गुणाश्रयता निर्बाध सिद्ध है।

३. अल्पतादि परिमाण गुण के अनुभव से शब्द की द्रव्यत्व सिद्धि : अमुक शब्द छोटा है और अमुक शब्द बड़ा है, इस प्रकार सर्वजन सिद्ध अनुभव से शब्द में अल्पत्व-महत्त्व सिद्ध है। पर यदि कोई यह कहे कि जो परिमाणवान् होता है, उसकी इयत्ता का अवधारण होता है और शब्द में इयत्ता का अवधारण नहीं होता है तो टीकाकार कहते हैं कि जैसे वायु में इयत्ता का अवधारण न होने पर भी उसमें अल्पत्व-महत्त्व आदि परिमाण सर्वमान्य हैं, उसी प्रकार शब्द में भी अल्पत्वादि गुण सिद्ध है।^{२१} आज विज्ञान ने वायु और शब्द के परिमाण अवधारण को शक्य बना दिया है।

शब्द में होने वाली अल्पत्व-महत्त्व की प्रतीति शब्द की तीव्रता-मन्दता द्वारा नहीं होती है, अपितु शब्द में होने वाली क्रिया की मन्दतादि से प्रतीत होती है।^{२२} जैसे- 'शब्दः मन्दमायाति - शब्द मन्दता से आ रहा है' इस प्रतीति से शब्द अल्प है एवं 'शब्दः तीव्रमायाति - शब्द तीव्रता से आ रहा है' इस प्रतीति से शब्द महान् है, इसकी

उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा न मानें तो मन्दवाही अगाध गंगाजल में अल्पत्व की और तीव्रवाही पहाड़ी झरनों में महत्त्व की प्रतीति की आपत्ति होगी।

लोक में क्रियाधर्म का क्रियावान में गौण व्यवहार देखा जाता है, इसीलिए मन्द बहते हुए नीर को 'मन्द' शब्द से और तीव्र बहते हुए नीर को 'तीव्र' शब्द से कह दिया जाता है।

४. वायु प्रतिनिवर्तन से सिद्ध संयोग द्वारा शब्द की द्रव्यत्व सिद्धि : वक्ता के कहने की इच्छा होने पर शरीर की प्राणवायु ऊपर उठकर शिर में टकराती है और वहाँ से प्रतिनिवर्तित होकर शब्द को उत्पन्न करती है। अतः वायु का शब्द से संयोग सिद्ध है। परिणामस्वरूप संयोग गुण द्वारा भी शब्द में द्रव्यत्व का अनुमान होता है।^{१३}

५. संख्या के योग से शब्द की द्रव्यत्व सिद्धि : 'एक शब्द, दो शब्द, बहुत शब्द' इस प्रकार प्रतीतियों से शब्द में एकत्वादि संख्या सिद्ध है। संख्या गुणस्वरूप है और गुण द्रव्य में आश्रित होता है, इसलिए संख्या के आश्रय से शब्द को द्रव्यात्मक मानना आवश्यक है।^{१४}

इस तरह शास्त्रवार्तासमुच्चय टीकाकार उपाध्याय यशोविजय ने न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के मतों से शब्द की द्रव्यता को निर्बाध प्रतिपादित किया है। जैनों ने सर्वप्रथम शब्द को पौद्गलिक (Material) और तरंग स्वरूप वेगवान प्रस्थापित कर उसे एक वैज्ञानिक आधार दिया है। आज वैज्ञानिक भी शब्द को द्रव्य रूप में स्वीकार करते हैं।

सन्दर्भ :

१. प्रज्ञापनासूत्र, भाषा पद
२. शास्त्रवार्तासमुच्चय (स्याद्वादकल्पलता टीका सहित), १०.३६, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, ६८, गुलालवाड़ी, मुम्बई, वि०सं० २०४४, पृ० १४९
३. वही, १०.३६, पृ० १४९
४. 'यत् तावद् बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वात् शब्दस्य गुणत्वमुक्तम् तदसत् रूपदीनामपि द्रव्यविविक्तानामसत्त्वेनाऽतथात्वाद् दृष्टान्ताऽसिद्धेः' - शास्त्रवार्तासमुच्चय, १०.३६, पृ० १५८
५. वही, १०.३६, पृ० १५८
६. जिनकी बारम्बारता २० हर्ट्ज से कम है वे इन्फ्रासोनिक तथा २०,००० हर्ट्ज से अधिक वाली ध्वनियाँ अल्ट्रासोनिक कहलाती हैं।- शब्द ब्रह्म नाद ब्रह्म, प० श्रीराम शर्मा, आचार्य वाङ्मय, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, १.९१

16 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 2, अप्रैल-जून, 2015

७. कंसपात्र्यादिध्वानाभिसंबन्धेन कर्णशष्कुल्याख्यस्य शरीरावयवस्याभिघातदर्शनेन स्पर्शवत्तया तस्य तत्सिद्धेः, स्पर्श-वेगसापेक्षक्रियाया अभिघातहेतुत्वात्'- शास्त्रवार्तासमुच्चय, पूर्वोक्त, १०.३६, पृ० १६३

८. Masaru Emoto- *Hidden Messages in Water*, Published by Simon & Schuster 2011, ISBN-1451656858, www.books.google.co.in/The_Hidden_Mess...

९. 'शब्द तीव्रतानुविधायित्वेनाभिघातविशेषस्य तद्धेतुकत्वात्'- शास्त्रवार्तासमुच्चय, पूर्वोक्त, १०.३६, पृ० १६३

१०. वेगबन्निबिडावयवक्रिययैवाभिघातः, तत्र स्पर्शो न तंत्रमिति- वही, १०.३६, पृ० १६४

११. न चेतानवधारणं बाधकम्, वाय्वादौ तदनवधारणेऽप्यल्प-महत्त्वावधारणात्। वही, १०.३६, पृ० १६४

१२. न चात्र क्रियानिष्ठयोरेव मन्दत्वव-तीव्रत्वयोः प्रत्ययः, शब्दे तु स्वगतयोरेवेति विशेष इति वाच्यम्... वही, १०.३६, पृ० १६५

१३. वही, १०.३६, पृ० १६६

१४. वही, पृ० १६७

मुद्राराक्षस में प्रयुक्त प्राकृतों का सार्थक्य

डॉ० रजनीश शुक्ल

सांसारिक नानाविध क्रियाकलापों में संलग्न, व्यग्र, शोक-संतप्त तथा दिनभर के शारीरिक श्रम से थके-हारे, चिन्तित मानव के लिए मनोरञ्जन का एकमात्र साधन है- नाट्य या नाटक ।

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥^१

इस दृश्य काव्य को रूपक भी कहा जाता है- रूपकं तत्समारोपात्^२ जिसमें दृश्यकलाओं, विद्याओं, शिल्पों एवं ज्ञान-विज्ञानों का एकत्र समावेश पाया जाता है।

नाट्य का नाटक काव्य ही है कारण। इसमें विभावानुभावादि के चित्रण से अलौकिक आनन्द (रस) की उपलब्धि होती है और जब गीतसंगीतादि से अनुरञ्जित पात्रों द्वारा उसका प्रयोग दिखलाया जाता है तब वह नाटक का रूप धारण कर लेता है। नाट्य में जीवन के ऐसे व्यापारों एवं घटनाओं का निबन्धन होता है जो सूक्ष्म, कोमल, भावनात्मक तथा मर्मस्पर्शी होते हैं। संवेदनशील आन्तरिक भावों के साथ ही जिसमें बाह्य रसाकर्षक चेष्टाएँ भी समन्वित होती हैं। अतः कहा जा सकता है कि नाट्य में सभी भावों सभी प्रकार के रसों एवं क्रियाकलापों की त्रिवेणी प्रवाहित होती है- 'सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्मप्रवृत्तिभिः। नानावस्थान्तरोपेतं नाटकं संविधीयते' ॥^३ नाट्य या रूपक के प्रधान चार तत्त्व हैं -संवाद, गीत, अभिनय तथा रस। रूपक में इन तत्त्वों को अनिवार्य बतलाया गया है।^४

नाट्यकार अपनी रचना में जिस किसी भी भाषा का प्रयोग करता है उसका माधुर्य-ओज एवं प्रसाद गुण सम्पन्न तथा संवेद्य एवं सम्बोध्य होना आवश्यक है। आचार्य भरत के अभिमतानुसार नाटक वा नाट्य की भाषा मृदु, ललितपद सम्पन्न गूढ़शब्दार्थहीन और जनसुख सम्बोध्य होना चाहिए- मृदुललितपदार्थ-गूढ़शब्दार्थहीनं जनपदसुखसम्बोध्यं युक्तिमन्नश्लथ्ययोज्यं बहुकृतरसमार्गमं भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्।^५

संस्कृत नाटकों में विशेषरूप से संस्कृत एवं जनभाषा प्राकृत का प्रयोग किया जाता है। उच्चकोटि के पुरुष पात्र तथा नायक आदि को संस्कृत का तथा नायिका एवं अन्य स्त्री पात्र और निम्नश्रेणी के समग्र पात्रों को देशज भाषा प्राकृत का प्रयोग युक्तियुक्त

बतलाया गया है। आचार्य विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस इसी परम्परा की सम्पोषक नाट्यकृति है जिसका प्राकृत प्रयोगों की दृष्टि से सार्थकता बताने का प्रयास किया गया है।

मुद्राराक्षस संस्कृत नाटकों में सर्वथा अनुपम एवं अपूर्व नाटक है। विशाखदत्त नाट्यशास्त्र के ज्ञाता होने के बावजूद भी एक नवीन परम्परा के जन्मदाता सिद्ध हुए हैं। विशाखदत्त की संस्कृत भाषा में विशिष्ट पद रचना की शक्तिमत्ता एवं सुस्पष्टता सर्वथा प्रशंसनीय है। विशाखदत्त की भाषा सिद्ध करती है कि विशाखदत्त एक उच्च कोटि के कलाकार थे। इनके नाटक की संस्कृत भाषा सरस तथा परिमित उपमाओं से युक्त है। परवर्ती नाटकारों में एकमात्र यही नाटककार हैं जिन्होंने अपनी रचना को नाटक समझकर लिखा है अर्थात् इनकी रचना रंगमंचीय है। दृश्यकाव्य का अधिकांश लक्षण इनके नाटक में विद्यमान है।

मुद्राराक्षस में कवि ने अपनी बहुलता का परिचय देते हुए राजशास्त्र, ज्योतिष, दर्शनशास्त्र, न्यायशास्त्र आदि की पारिभाषिक पदावली का प्रयोग किया है। उनकी भाषा समासबहुला है। रौद्र एवं वीररसपूर्ण वर्णनों में समासप्रधान भाषा और संयुक्त वर्णों के संयोजन में कवि ने अपने कथन में ओजस्विता उत्पन्न की है। पदावली रसानुरूपिणी है। उन्होंने उपमा, रूपक, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा समासोक्ति आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया है। विशाखदत्त ने अलंकारों का प्रयोग भावोत्कर्ष के लिए किया है। छन्दों में शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा छन्दों की प्रधानता है। वसन्ततिलका, शिखरिणी, प्रहर्षणी, अनुष्टुप, माल्यभारिणी, पुष्पिताग्रा, सुवदना और आर्या आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है। मुद्राराक्षस की संस्कृत परम्परा-प्रतिष्ठित है। गद्य और पद्य दोनों में ही विशाखदत्त ने समास एवं आडम्बरयुक्त कोमल सरस एवं औचित्यपूर्ण पदावली का प्रयोग किया है। नाटककार का शब्दविन्यास ओजमय एवं कौतूहलपूर्ण है। कवि की भाषा में भावुकता के स्थान पर प्रभविष्णुता अपेक्षाकृत अधिक है।

विशाखदत्त की संस्कृत भाषा में ओजोमय गद्य का विशेषतः समावेश हुआ है। किन्तु विभिन्न स्थानों पर उनकी भाषा में काव्य का लालित्यमय प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। यथा -

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
संध्यारुणामिव कलां शशलांछनस्य।
जुम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् ॥^९

अर्थात् ऐसा कौन वीर है जो सिंह के अनुशासन का तिरस्कार कर जम्हाई लेते समय उसके खुले हुए मुख से उसकी दाढ़ी उखाड़ लेने का साहस करेगा जो तत्काल ही हाथी के वध करने के कारण उसके रक्त से रक्तिम शोभावाली और सायंकाल में अरुण वर्ण के चन्द्रमा की कला के समान देदीप्यमान हो रहा है।

मुद्राराक्षस में नाटकीय औचित्य की दृष्टि से प्रायः काव्यकल्पनाओं का अभाव है। विशाखदत्त की नाट्य-कला की तुलना भवभूति एवं कालिदास की नाट्यकला से करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें चमत्कारपूर्ण उक्ति और काव्यमय भावाभिव्यंजना का अभाव है। विशाखदत्त ने लोकोक्तियों का युक्तिसंगत प्रयोग किया है। उदाहारणार्थ - अनर्थों की बहुलता के लिए समानार्थी संस्कृत कहावत- 'अथमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः'। पांचवें अंक का यह प्रसंग जीवसिद्धि के प्रति विश्वासघात स्पष्ट होने पर राक्षस का उद्गार है।^७

काव्य कला की दृष्टि से यह नाटक महत्त्वपूर्ण नहीं, चरित्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस नाटक में पुरुष पात्रों की प्रधानता तथा स्त्री पात्रों का अभाव है। इस नाटक में सात अंक हैं और २३ पुरुष पात्र तथा चार स्त्री पात्र हैं।

विशाखदत्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र, शुक्रनीति एवं अन्य नीतिशास्त्रों में वर्णित विज्ञान से पूर्ण परिचित थे। अर्थशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का नाटककार ने अपनी रचना में प्रयोग किया है। समकालीन धर्मों का भी विशाखदत्त को ज्ञान था। बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी विशाखदत्त ने क्षपणक से करवाया है। यथा -

अलिहन्ताणं पणामामो जे दे गम्भीलदाए बुद्धिए।
लोउत्तलेहिं लोए सिद्धिं मग्गेहिं मग्गन्ति ॥^८
सासणमलिहन्ताणंप्यडिवज्जह मोहबावेहिज्जाणां।
जे पढममेत्तकडुअं पच्छा पत्थं उबदिसन्ति ॥^९

भारत की प्राचीन भाषाओं में प्राकृत भाषाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक भाषाओं के रूप में प्रारम्भ में इनकी प्रतिष्ठा रही और क्रमशः ये साहित्य एवं चिन्तन की भाषाएँ बनीं। प्राकृत प्राचीन भारत के जीवन और साहित्यिक जगत् की आधारभूत भाषा है। जनभाषा से विकसित होने के कारण और जन-सामान्य की स्वाभाविक (प्राकृतिक) भाषा होने के कारण इसे प्राकृत भाषा कहा गया है।

प्राचीन विद्वान् नमिसाधु के अनुसार 'प्राकृत' शब्द का अर्थ है- व्याकरण आदि संस्कारों से रहित लोगों का स्वाभाविक वचन-व्यापार। उससे उत्पन्न अथवा वही वचन व्यापार प्राकृत है। प्राकृत पद से प्राकृत शब्द बना है, जिसका अर्थ है पहले

20 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 2, अप्रैल-जून, 2015

किया गया। प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति करते समय 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्' अथवा 'प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्' अर्थ को स्वीकार करना चाहिए।

भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बोले जाने के कारण स्वभावतः उनके रूपों में भिन्नता आई। उन बोलचाल की भाषाओं या बोलियों के आधार पर साहित्यिक प्राकृतें विकसित हुईं। आचार्य भरत^{१०} ने नाट्यशास्त्र में प्राकृतों का वर्णन करते हुए मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शूरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या नाम से प्राकृत के सात भेदों की चर्चा की है।

भरत के नाट्यशास्त्र^{११} में धीरोदात्त और धीरप्रशान्त नायक, राजमहिषी, गणिका एवं श्रोत्रिय ब्राह्मण आदि के लिए संस्कृत तथा श्रमण, तपस्वी, भिक्षु, तापस, स्त्री, नीच जाति और नपुंसकों के लिए प्राकृत बोलने का विधान है। नाट्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत-नाटकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इनमें उच्च वर्ग के पुरुष अग्रमहिषियाँ, राजमन्त्रियों की पुत्रियाँ, वेश्याएँ आदि संस्कृत तथा साधारणतया स्त्रियाँ, विदूषक, श्रेष्ठी, नौकर-चाकर आदि निम्नवर्गीय पात्र प्राकृत में बातचीत करते हैं। इससे संस्कृत और प्राकृत-नाटकों की भाषिकी मिश्रणगत उभयनिष्ठता पर आधृत उस सांस्कृतिक चेतना की सूचना मिलती है जिसका पारस्परिक आदान-प्रदान उक्त दोनों भाषाओं के नाटकों में होता रहा है। इसलिए संस्कृत-नाटकों के तत्त्व की सही जानकारी की प्राप्ति प्राकृत-नाटकों के अनुशीलन से ही सम्भव है।

नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में आचार्य भरत ने कहा है- नाटकों में चार प्रकार की भाषाएँ प्रयुक्त होती हैं जो संस्कृत और प्राकृतमय होती हैं।

भाषाचतुर्विधा ज्ञेया दशरूपे प्रयोगतः।

संस्कृतं प्राकृतं चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते।^{१२}

अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा और न्योन्यन्तरी भाषा ये चार प्रकार की भाषाएँ हैं और नाटकों में इनका प्रयोग विभिन्न स्थलों में होता है।

प्राकृत के उपलब्ध व्याकरणों में सबसे प्राचीन प्राकृत प्रकाश के प्रणेता वररुचि ने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची आदि भेदों का वर्णन किया है।

महाराष्ट्री सबसे उत्तम प्राकृत के रूप में गिनी जाती थी। महाकवि दण्डी अपने काव्यादर्श में लिखते हैं कि 'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः'^{१३} अर्थात् कवि लोग महाराष्ट्र देश में प्रचलित महाराष्ट्री प्राकृत को सबसे उत्तम मानते थे। प्राकृत

व्याकरणों में सबसे पहले इसी का वर्णन रहता है। दूसरी प्राकृतों के विषय में उनके विशेष नियम देकर कह दिया जाता है 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' अर्थात् शेष महाराष्ट्री की भाँति। भरत ने नाट्यशास्त्र में आवन्ती और वाह्लीकी भाषा का उल्लेख महाराष्ट्री के सन्दर्भ में किया है। उन्होंने नाटकों में धूर्त पात्रों के लिए आवन्ती का और द्यूतकारों के लिए वाह्लीकी का प्रयोग कहा है। कालिदास से लेकर उसके बाद के सभी नाटकों में पद्य में प्रायः महाराष्ट्री भाषा का ही व्यवहार देखा जाता है। नाटकों के स्त्री पात्र अपने गीत महाराष्ट्री में गाते हैं।

शौरसेनी प्राकृत मध्यदेश की भाषा थी। संस्कृत-नाटकों में प्राकृत गद्यांश सामान्य रूप से शौरसेनी भाषा में लिखा गया है। भरत के नाट्यशास्त्र में शौरसेनी भाषा का उल्लेख है, उन्होंने नाटक में नायिका और सखियों के लिए इस भाषा का प्रयोग बताया है।

मागधी पूर्व प्रान्त की प्राकृत है। इसका केन्द्र प्राचीन मगध देश था। नाटकों में नीच पात्र मागधी बोलते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में मागधी भाषा का उल्लेख है और उन्होंने नाटकों में राजा के अन्तःपुर में रहनेवाले, सुरंग खोदनेवाले, कलवार, अश्वपालक वगैरह पात्रों के लिए और विपत्ति में नायक के लिए भी इस भाषा का प्रयोग करने को कहा है।^{१४} परन्तु मार्कण्डेय द्वारा अपने प्राकृतसर्वस्व में उद्धृत किये हुए कोहल के 'राक्षसभिक्षुक्षपणकचेटाद्या मागधी प्राहुः' इस वचन से मालूम होता है कि भरत के कहे हुए उक्त पात्रों के अतिरिक्त भिक्षु, क्षपणक आदि अन्य लोग भी इस भाषा का व्यवहार करते थे। नाटकीय प्राकृतों में मागधी भाषा के उदाहरण देखे जाते हैं। नाटकीय मागधी के सर्व-प्राचीन नमूने अश्वघोष के नाटकों के खण्डित अंशों में मिलते हैं। भास के नाटकों में, कालिदास के नाटकों में और मृच्छकटिक आदि नाटकों में मागधी भाषा के उदाहरण विद्यमान हैं। वर्ण विकार में यह प्राकृत अन्य प्राकृतों से बहुत भेद रखती है। इसमें संस्कृत स को श और र को ल हो जाता है। य यथास्थित रहता है बल्कि ज का भी य हो जाता है।

नाट्याचार्यों द्वारा परिगणित दस प्रकार के रूपकों और अट्टारह प्रकार के उपरूपकों में भाण, डिम, बीथी, त्रोटक, सट्टक, गोष्ठी प्रेखण रसक, हल्लीसक और भाणिक चूँकि लोकनाट्य के प्रकार हैं, इसलिए अनुमान है कि ये मूलतः प्राकृत में ही रहे होंगे। रूपक-उपरूपक के उक्त भेदों में प्रायः वे ही पात्र हैं जो प्राकृत में कथोपकथन करते हैं।

प्राकृत-भाषाओं का प्रथम नाटकीय प्रयोग संस्कृत के रूपकों में उपलब्ध होता है। संस्कृत नाटकों में मुख्यतः अश्वघोष से लेकर राजशेखर पर्यन्त के नाटकों में

22 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 2, अप्रैल-जून, 2015

नाटकीय प्राकृत-भाषाओं का प्रचुर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत भाषा जन सामान्य की भाषा नहीं पण्डितों एवं राजा तथा तत-तत् समकक्ष लोगों की भाषा थी। सामान्य लोगों के बोल-चाल की भाषा संस्कृत नहीं, प्राकृत भाषा थी। नाटकों को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए विभिन्न भागों में प्रचलित विभिन्न प्राकृत भाषाओं का प्रयोग किया जाता था। नाटकों में अनेक प्रकार के पात्र होते हैं और वे अपनी योग्यतानुसार एवं अवस्थानुसार विभिन्न प्राकृत भाषाओं का प्रयोग करते हैं।

संस्कृत नाटकों में मूलतः शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी प्राकृत का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं अर्द्धमागधी, अपभ्रंश एवं अन्य प्राकृतों का भी प्रयोग एकाध स्थल पर हुआ है। मृच्छकटिक और मुद्राराक्षस में नाटककारों ने नाट्यशास्त्र के नियमों को ध्यान में रखकर विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग विभिन्न पात्रों द्वारा कराया है। प्राकृत के ऐतिहासिक स्वरूपों का विवेचन करते समय विभिन्न नाटककारों एवं काल पर ध्यान देना आवश्यक है। क्योंकि विभिन्न नाटककारों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं और यही स्थित काल की दृष्टि से भी है। प्राचीनकाल के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत आधुनिक काल के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत से कुछ अंशों में भिन्न है।

शौरसेनी प्राकृत

संस्कृत नाटकों की गद्यभाषा मुख्यतः शौरसेनी प्राकृत है। शौरसेनी संस्कृत नाटकों में महिलाओं, बच्चों, नपुंसकों, ज्योतिषियों, विक्षिप्त तथा अस्वस्थ लोगों द्वारा प्रयुक्त होती है। विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस में शौरसेनी का प्रयोग उल्लेखनीय है। यथा - प्रथम अंक में ही प्रतिहारी की उक्ति शौरसेनी में इस प्रकार है -

प्रतिहारी - “अज्ज देवो चन्दसिरी सीसे कमलमुउलाआरमंजलिं णिवेसिअ अज्जं विण्णवेदि। इच्छामि अज्जेण अब्भणुण्णादो देवस्स पव्वदीसरस्स पारलोइअं कादुं तेण अ धारिदपुव्वाइं आहरणाइं बम्हणाणं पडिवादेमिति।”^{१५}

प्रतिहारी - महाराज चन्द्रमा की सी छवि धारण करने वाले महाराज कमल कलिका की भाँति अंजलि को सिर से लगाकर आपसे निवेदन करते हैं कि आपकी अनुमति से मैं राजा पर्वतेश्वर का श्राद्ध करना चाहता हूँ और उनके द्वारा पहले धारण किये गये आभूषणों को ब्राह्मणों को देना चाहता हूँ।

चन्दनदास प्रथम अंक में शौरसेनी में इस प्रकार कहता है -

चाणक्कम्मि अकरुणे सहसा सहाविंदस्स वि जणस्स।

णिहोस्स वि संका किं उण महं जाददोसस्स।।^{१६}

अर्थात् निर्दय चाणक्य के द्वारा किसी निर्दोष पुरुष को बुलाये जाने पर भी उसके मन में शंका उत्पन्न हो जाती है, फिर अपराधी पुरुष की तो बात ही क्या?

पंचम अंक में क्षपणक द्वारा शौरसेनी में एक कथन इस प्रकार है -

क्षपणक - “तदो हगे रक्खसस्स मित्तं त्ति कदुअ चाणक्कहदएण सणिकालं णअरादो णिव्वासिदे। दाणीं वि रक्खसेण अणेअकज्जकुसलेण किंवा तालिसं आलहीअदि जेण हगे जीअलोआदो णिक्कासिज्जेमि।”^{१७}

अर्थात् तदनन्तर क्योंकि मैं राक्षस का मित्र था, अतः चाणक्य ने अपमानित कर मुझे नगर से बाहर कर दिया। इस समय भी अनेक राजकार्यों में कुशल राक्षस के द्वारा कुछ उसी प्रकार के कार्य किये जा रहे हैं जिससे मैं अब इस संसार से ही विदा कर दिया जाऊँगा।

षष्ठ अंक में हाथ से रस्सी लिए पुरुष प्रवेश करता है और शौरसेनी में कहता है-

“ऐसो सो पदेसो अज्जचाणक्कस्स उदुम्बरेण कहिदो जहिं मए अज्ज चाणक्काणत्तीए अमच्चरक्खसो पेक्खिदव्वो। कहं एसो क्खु अमच्चरक्खसो किदसीसावगुण्ठणो इदो एव्व आअच्छदि। ता जाव इमेहिं जिण्णुज्जाणपादवेहिं अन्तरिदसरीरो पेक्खामि कहिं आसणपरिग्गहं करेदि त्ति”।^{१८}

अर्थात् यह वही स्थान है, जहाँ उदुम्बर के द्वारा मान्य चाणक्य को दी गई सूचना के अनुसार मुझे अमात्य राक्षस के दर्शन करने हैं। देखकर (क्या यही अमात्य राक्षस हैं?) सिर पर पर्दा डाले ये तो इधर ही आ रहे हैं। तो जब तक ये आसन नहीं ग्रहण कर लेते-इस उद्यान के पेड़ की आड़ से मैं छिपकर देखता हूँ।

सातवें अंक में चन्दनदास द्वारा प्रयुक्त प्राकृत शौरसेनी का उदाहरण इस प्रकार है -

“हब्दी हब्दी अम्हारिसाणं वि णिच्चं चारित्तभंगभीरुणं चोरजणोचिदं मरणं होदि त्ति णमो किदन्तस्स। अह वा ण णिसंसाणं उदासीणेसु इदरेसु वा विसेसोत्थि। तह हि”^{१९}

अर्थात् हा धिक्कार है, धिक्कार है। चरित्रभंग होने के भय से संतप्त हमारे जैसे व्यक्ति की मृत्यु भी चोरजनों के लिए उपयुक्त मृत्यु की तरह होती है। अतः नमस्कार है-महाराज यमराज को। अथवा निर्दय व्यक्तियों के सामने पदासीनों या दूसरों में भेद नहीं हो पाता।

महाराष्ट्री प्राकृत

संस्कृत नाटकों में जिन प्राकृतों का प्रयोग हुआ है उनमें महाराष्ट्री सर्वश्रेष्ठ है। महाकवि दण्डी ने वाक्यादर्श में महाराष्ट्री प्राकृत को सर्वश्रेष्ठ बताया है। यथा

‘महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्राकृतं विदुः’। महाराष्ट्री में गेयता का वैशिष्ट्य है, इसमें पद बड़े ही सुकुमार होते हैं। उच्चारण की क्लिष्टता का अभाव इसकी प्रमुख विशेषता है। मुद्राराक्षस में महाराष्ट्री प्राकृत के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं-

चर का कथन महाराष्ट्री में इस प्रकार है-

**पणमह जमस्स चलणे किं कज्जं देवएहि अणोहिं।
ऐसो खु अण्णभत्ताणं हरइ जीअं चडफडंतं।।^{१०}**

अर्थात् यमराज के चरणों में प्रणाम करो! इधर देवताओं को पूजने से क्या लाभ? क्योंकि अन्य देवताओं के उपासकों के प्राण भी यमराज हर ले जाते हैं।

पुनश्च -

**पुरिसस्स जीविदव्वं विसमादो होइ भत्तिगहिआदो।
मारेइ सव्वलोअं जो तेण जमेण जीआमो।।^{११}**

अर्थात् हम सबों की जिन्दगी सदैव इस भयंकर यमराज की भक्ति पर निर्भर करती है। वही यम जो प्राणिमात्र के लिए मृत्यु है- हमारे जीवन का आधार है।

नटी का एक कथन महाराष्ट्री प्राकृत का उदाहरण इस प्रकार है-

अज्ज इयहिं। अण्णाणिओएण मं अज्जो अणुगेहणदु।।^{१२}

अर्थात् आर्य! मैं आ गयी आदेश देकर मुझे अनुगृहीत करें।

चतुर्थ अंक में पुरुष का कथन महाराष्ट्री प्राकृत में इस प्रकार है-

**दूले पच्चासत्ती दंसणमवि दुल्लहं अधणोहिं।
कल्लाणकुलहलाणं देआणं विअ मणुस्सदेआणं।^{१३}**

अर्थात् स्वर्णमय मेरु पर्वत पर रहने वाले देवताओं के समान महान एवं उन्नतवंश में उत्पन्न राजाओं को दुर्भाग्यशाली व्यक्तियों से दर्शन भी दुर्लभ है, समीप रहना तो सर्वथा कठिन है।

मागधी प्राकृत

भगवान बुद्ध ने जिस भाषा में उपदेश दिया था, वह निःसन्देह मागधी थी, पालि नहीं। मागधी का मूल आधार मगध के आसपास की भाषा है। वररुचि इसे शौरसेनी से निकली हुई मानते हैं- ‘प्राकृत शौरसेनी’ लंका में पालि को ही मागधी कहते हैं।

संस्कृत नाटकों में नीच कोटि के पात्र मागधी का प्रयोग करते हैं। क्षपणक, चाण्डाल, सिद्धार्थक, समिद्धार्थक, चेट, चेटी, वज्रलोमा आदि पात्र मागधी का प्रयोग करते हैं। मुद्राराक्षस के सप्तम् अंक के तृतीय श्लोक में मागधी का प्रयोग इस प्रकार है -

**मोतूण आमिसाङ्गं मरणभरणं तिणेहिं जीअंतं।
वाहाण मुद्धहरिणं हन्तुं को णाम णिब्बंघो।।^{२५}**

अर्थात् मृत्यु भय से मांस छोड़कर तृणों से जीवन-यापन करने वाले भोले हिरणों को मारने में शिकारियों का कौन सा आग्रह है।

मुद्राराक्षस के सप्तम् अंक में चाण्डाल वज्रलोमा के कथन में भी मागधी का प्रयोग देखा जा सकता है -

एसो अज्जणीदिसंजमिदबुद्धिपुलिसआले गिहीदे अमच्चरक्खसे त्ति।^{२६}

अर्थात् आर्य की नीति से कुण्ठित बुद्धि और पुरुषार्थवाले अमात्य राक्षस पकड़ लिये गये हैं।

राक्षस द्वारा द्वितीय अंक में मागधी का प्रयोग द्रष्टव्य है -

**पाऊण निरवसेसं कुसुमरसं कुसलदाए अत्तणो।
जं उगिरेइ भमरो अण्णाणं कुणइ तं कज्जं।।^{२७}**

अर्थात् भ्रमर (मधुमक्खी) अपनी चतुरता से समस्त पुष्परस को पीकर जो वस्तु बाहर निकालता है, वह दूसरे (देव पितृ) के कार्य को करता है। इसका पक्षान्तर यह है कि भ्रमर के समान मैं आपका दूत अपनी चतुरता से समस्त कुसुमपुर के वृत्तान्त को जानकर आपसे जो कुछ कहता हूँ, वह कहा हुआ मेरा वचन आपके सन्धि, विग्रह आदि कार्य का साधन बनेगा।

षष्ठ अंक के प्रारम्भ में ही सिद्धार्थक का कथन इस प्रकार है -

**जअदि जलदणीलो केसवो केसिघादी
जअदि अ जणदिट्ठि चन्दमा चन्दउत्तो।
जअदि जअणकज्जं जाव काऊण सव्वं।
पडिहदपरपक्खा अज्जचाणक्कणीदी।।^{२८}**

अर्थात् मेघ के समान श्यामवर्ण वाले तथा केशी नामक राक्षस को मारने वाले विष्णु की जय हो। मनुष्यों की दृष्टि के लिए चन्द्रतुल्य चन्द्रगुप्त की जय हो। युद्धार्थ उद्यत

26 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 2, अप्रैल-जून, 2015

सेना के बिना शत्रुपक्ष को नष्ट कर देने वाली आर्य चाणक्य की नीति की जय हो।
इसी अंक में समिद्धार्थक भी मागधी में ही कहता है-

**संदावे बतारेसाणं गेहूसवे सुहाअत्ताणं।
हिअअट्टिदाणं विहवा विरहे मित्ताणं दूणन्दि।^{२८}**

अर्थात् दुःख में शीतल शशि की भाँति संताप-हारक, घर के उत्सवों में सुखदायक, हृदय में सदैव विद्यमान मित्रों के विरह में ऐश्वर्य भी पीड़ित करते हैं।

सप्तम् अंक में वज्रलोमा का कथन मागधी में इतना सुन्दर है। यथा -

**जइ महह लक्खिदुं शेप्पाणे विहवे कुलं कलत्तं अ।
ता पलिहलेह विसमं लाआपत्थं सुदूलेण।^{२९}**

यदि अपने प्राण, विभव, कुल और कलत्र की रक्षा करना चाहते हो तो विष की भाँति राजा के लिए अपथ्य अर्थात् अवांछनीय पदार्थ का प्रयत्न पूर्वक परित्याग करो।

इस प्रकार इस नाटक के विभिन्न पात्रों ने शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री का प्रयोग किया है। प्रियंवदक, पुरुष, दौवारिक जैसे पात्र शौरसेनी का ही प्रयोग करते हैं।

उपसंहार

संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में मुद्राराक्षस अश्वघोष, कालिदास, भास आदि द्वारा रचित नाटकों की अपेक्षा नवीन शैली में प्रणीत नाटक है। यह विशाखदत्त का एक अद्भुत नाटक है, जिसमें सात अंक हैं। इस नाटक में पुरुष तथा नारी पात्रों में जो पात्र प्राकृतभाषी हैं उनमें नटी, चर, प्रतिहारी, सिद्धार्थक, चन्दनदास, आहितुण्डिक, प्रियंवदक, पुरुष दौवारिक, करभक, क्षपणक, समिद्धार्थक, चाण्डाल, कुटुम्बिनी और पुत्र जैसे पात्र मुख्य हैं। इस नाटक में मुख्यतः तीन प्राकृत- शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का प्रयोग मिलता है। गद्य की भाषा सामान्यतः शौरसेनी है और पद्य की भाषा महाराष्ट्री। किन्तु यह विधान स्त्रियों के साथ लागू नहीं होता है। कुछ पुरुष पात्र पद्य भाग को भी शौरसेनी में ही प्रस्तुत करते हैं।

विशाखदत्त ने प्राकृतों का प्रयोग व्याकरण के नियमानुसार किया है। मुद्राराक्षस रूपक में शौरसेनी, महाराष्ट्री (पद्य में) और मागधी (क्षपणक, सिद्धार्थक और चाण्डाल बोलते हैं) प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। विशाखदत्त द्वारा प्रयुक्त प्राकृत के स्वरूप को देखने से प्रतीत होता है कि इनकी प्राकृत भाषा सर्वथा कृत्रिम अर्थात् व्याकरणमूलक

है। क्योंकि कतिपय हस्तलिखित प्रतियों में मागधी के विशिष्ट लक्षणों का निर्वाह किया गया है। जैसे-संस्कृतं 'न्य' के स्थान पर 'ण्ण', 'क्ष' के लिए 'हक', 'च्छ' के लिए 'श्च', 'स्थ' के लिए 'स्त', 'ष्ठ' के लिए 'ष्ट का' प्रयोग मिलता है। साथ-साथ श, ल, और ए का प्रयोग मिलता है। मुद्राराक्षस में शौरसेनी पद्यों के चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं। यह शास्त्र नियमानुकूल है, क्योंकि गद्य में शौरसेनी का प्रयोग करनेवालों के लिए महाराष्ट्री में गाना आवश्यक नहीं है। ऐसी बात केवल स्त्रियों के साथ देखी जाती है। इस नाटक में शौरसेनी पद्यों का प्रयोग करने वाले पुरुष ही हैं। अतः पद्य में शौरसेनी का भी प्रयोग अनुचित नहीं है।

मुद्राराक्षस की रचना पर विचार करने से पता चलता है कि यह रचना कालिदास, भवभूति, भास एवं शूद्रक की रचना की भाँति प्राकृत की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है फिर भी इस नाटक में प्राकृत प्रयोगों का महत्वपूर्ण स्थान है।

सन्दर्भ :

१. नाट्यशास्त्र, भरत, १/११४
२. दशरूपक १/७, उद्धृत हिन्दी दशरूपक, सम्पा. डॉ. सुधाकर मालवीय, कृष्णादास अकादमी, वाराणसी, १९९५, पृ.६ पृ०.७
३. नाट्यशास्त्र, १९/१४७
४. वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः। दशरूपक १/११, पूर्वोक्त पृ० १३
५. नाट्यशास्त्र १९/१५२ (मूल)
६. मुद्राराक्षस, विशाखदत्त, अनु. आर.डी.कर्मकर, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली २००२, अंक १/८
७. वही, पृ० १६५
८. वही, ५/२
९. वही, १४/१८
१०. नाट्यशास्त्र १७/४९
११. वही, १७/३१, ४३
१२. वही, १७/२६
१३. काव्यादर्श, १/३४
१४. मागधी तु नरेन्द्रगामन्तःपुरनिवासिनाम्। नाट्यशास्त्र, १७/५१
सन्धिकारश्च रक्षताम् । व्यसने नायकानां चाप्यात्मरक्षासु मागधी, वही १७/५७
१५. मुद्राराक्षस, पूर्वोक्त, पृ.२३
१६. वही, १/२१
१७. वही, पृ. १४२

28 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 2, अप्रैल-जून, 2015

१८. वही, पृ. १७६

१९. वही, पृ. १९५

२०. वही, १/२१

२१. वही, १/१८

२२. वही, पृ. ४

२३. वही, ४/४

२४. वही, ७/३

२५. वही, पृ. २०२

२६. वही २/११

२७. वही, ६/१

२८. वही, ६/२

२९. वही, ७/१

आगमों में वादविज्ञान

डॉ. श्वेता जैन

तत्त्वबोध के लिए गुरु-शिष्य के मध्य हुआ संवाद या दो विद्वानों या व्यक्तियों के मध्य हुआ विमर्श वाद कहलाता है। वाद सद्धर्म की प्रस्तुति, सुलक्षण की स्थापना और दुर्लक्षण की निवृत्ति तथा मिथ्या धारणाओं के खण्डन के लिए किया जाता रहा है। उपायहृदयकार तो यहाँ तक कह देते हैं- **‘यदीह लोके वादो न भवेत्, मुग्धानां बाहुल्यं स्यात्’**^१ यदि लोक में वाद नहीं होगा, तो मूढ़ लोगों की बहुलता हो जाएगी। अर्थात् वाद मूढ़ता के नाश के लिए किया जाता रहा है। कहा भी गया है- **‘मोहो विण्णाण विवच्चासो’**^२ विवेक ज्ञान का विपर्यास ही मोह या मूढ़ता है। अतः मूढ़ता के नाश हेतु किया गया वाद ज्ञान का सेतु या साधन है।

ज्ञान के सेतु या साधन के रूप में कृत वादों के अनेक उदाहरण आगमों में प्राप्त होते हैं। उपासकदशांगसूत्र के सातवें अध्ययन में भगवान् महावीर का सकडालपुत्र से नियति की कारणता को लेकर वाद होता है। इस वाद में भगवान् द्वारा ऐसे हेतु उपस्थापित किये जाते हैं, जिनका वह प्रत्युत्तर नहीं दे पाता है और अन्त में उसे पुरुषार्थ की महत्ता का बोध होता है। मिट्टी के बर्तन आदि नियति से बनते हैं, पुरुषार्थ से नहीं- सकडालपुत्र द्वारा यह कहने पर भगवान् महावीर उससे पूछते हैं कि कोई अग्निमित्रा के साथ विपुल भोग भोगे तो तुम क्या करोगे? उत्तर में वह कहता है कि मैं उसे पीटूँगा, बाँध दूँगा, धमकाऊँगा, उसकी भर्त्सना करूँगा। तब भगवान् कहते हैं- **‘तो जं वदसि- नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव नियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा’**^३ तुम प्रयत्न, पुरुषार्थ आदि के न होने की तथा होनेवाले सब कार्यों के नियत होने की जो बात कहते हो, वह असत्य है। प्रस्तुत वाद में यह बात उभर कर आ रही है कि जिस नियति के सिद्धान्त को सकडाल स्वीकार करता है, उसका आचरण या व्यवहार में अनुपालना करने में वह असमर्थ है। अतः जो सिद्धान्त सैद्धान्तिक रूप में तो सिद्ध होता है, किन्तु व्यवहार में असिद्ध है, उसका स्वीकरण नहीं हो पाता-ऐसा तत्त्वबोध इस वाद से होता है। उपासकदशांग के छठें अध्ययन में कुण्डकौलिक और देव के मध्य इसी तरह का वाद प्राप्त होता है, जिससे पुरुषार्थ की कारणता की सिद्धि होती है।

राजप्रश्नीयसूत्र में केशीश्रमण और राजा प्रदेशी का **‘शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है’** विषय को लेकर वाद हुआ।^४ राजा प्रदेशी के कुल में यह मान्यता चली आ रही थी कि जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है। वह इस सिद्धान्त के औचित्य को तर्कों और प्रयोगों के आधार पर सिद्ध करते हुए कहता है-

30 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 2, अप्रैल-जून, 2015

१. मेरे पितामह अधार्मिक होने से यदि नरक में गए, तो वे अपने प्रिय पौत्र (मुझे) को यह कहने नहीं आए कि अधर्म मत करना। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव और शरीर एक हैं तभी तो मृत्यु के बाद कोई अस्तित्व नहीं रहा, अतः वे मुझे कहने नहीं आए। यदि शरीर और जीव भिन्न-भिन्न होते तो उनका जीव नया शरीर धारण करके भी प्रेमवश मुझे सजग करने जरूर आता। अतः जीव ही शरीर है।

२. मेरी दादी धार्मिक प्रवृत्ति की थीं, वह भी स्वर्ग में जाकर मुझे चेताने या बताने नहीं आयीं।

३. अपने कृत प्रयोगों के आधार पर राजा कहता है कि लोहे की कुम्भी को लेप आदि से बन्द करने के बावजूद भी उसमें डाले गए जीवित पुरुष के मृत होने पर उस जीव के उसमें से निकलने के दरार आदि कोई निशान नहीं हैं।

४. लोहे की कुम्भी को लेप आदि से बन्द करने के बाद भी उसमें रखे हुए मृत शरीर में कृमि उत्पन्न हो गए। बिना छेद की बन्द कुम्भी में जीव कैसे प्रविष्ट हों गए?

५. तरुण और ताकतवर पुरुष एक साथ पाँच बाण निकालने में समर्थ होता है, किन्तु शक्तिहीन पुरुष पाँच बाण निकालने में समर्थ नहीं होता है। अतः जीव और शरीर एक हैं क्योंकि शरीर के बलशाली और अबलशाली होने से ही कार्य शक्ति में अन्तर आता है।

६. तरुण पुरुष वजनदार लोहे के भार को उठाने में समर्थ होता है जबकि एक वृद्ध पुरुष समर्थ नहीं होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जीव और शरीर एक है।

७. जीवित मनुष्य और मृत मनुष्य के तौल में अन्तर नहीं होने से जीव और शरीर की भिन्नता सिद्ध नहीं होती।

८. जीवित व्यक्ति के टुकड़े-टुकड़े करके देखने पर भी उसमें कहीं जीव दिखाई नहीं दिया। अतः जीव की कोई पृथक् सत्ता नहीं है।

उपर्युक्त सभी तर्कों के युक्तियुक्त उत्तर देकर राजा प्रदेशी को केशीश्रमण ने सन्तुष्ट किया। इसप्रकार वाद के प्रयोग से राजा के विचारों में परिवर्तन हो सका।

सूत्रकृतांग में भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्र का प्रत्याख्यान विषयक प्रश्न और गौतम गणधर के समाधान का एक सुन्दर वाद प्रस्तुत है। इसमें 'वाद' शब्द का प्रयोग करते हुए प्रश्न पूछा गया है- 'सवाद्यं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वदासी'। उदक निर्ग्रन्थ कहते हैं कि कुमारपुत्र नामक श्रमण निर्ग्रन्थ

गृहस्थ श्रमणोपासकों को इस प्रकार करवाते हैं- 'नन्नत्थ अभिजोएणं गाहावतीचरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दण्डं' ।^६ किन्तु यह दुष्प्रत्याख्यान है, उन्हें -'तसेहिं पाणेहिं' के स्थान पर 'तसभूतेहिं पाणेहिं' से प्रत्याख्यान करवाना चाहिए। उदक निर्ग्रन्थ दुष्प्रत्याख्यान की सिद्धि में हेतु देते हैं कि अभियोगों का आगार रखकर जो श्रावक त्रस प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान करते हैं, वे कर्मवशात् उन त्रसजीवों के स्थावर जीव के रूप में उत्पन्न होने पर उनका वध करते हैं, ऐसी स्थिति में वे प्रतिज्ञाभंग करते हैं, उनका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान हो जाता है। मेरा (उदक निर्ग्रन्थ का) मन्तव्य है कि 'त्रस' पद के आगे 'भूत' पद को जोड़कर त्याग कराने से प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। समाधान में गणधर गौतम कहते हैं कि श्रमणोपासक को उसी प्राणी को मारने का त्याग है, जो वर्तमान में 'त्रस' पर्याय में है, वह जीव भूतकाल में स्थावर रहा हो या वर्तमान में त्रस से स्थावर बन गया हो, उससे उसका कोई प्रयोजन नहीं, न उससे उसका व्रतभंग होता है, क्योंकि कर्मवशा पर्याय-परिवर्तन होता रहता है। जैन विद्वान श्री चन्द सुराणा 'सरस' ने इसके विवेचन में 'भूत' पद की अनुपयुक्तता के तीन कारण बतलाए हैं-

(१) 'भूत' शब्द का प्रयोग निरर्थक है, पुनरुक्तिदोषयुक्त है।

(२) 'भूत' शब्द 'त्रससदृश' होने से अभीष्ट नहीं है।

(३) 'भूत' शब्द उपमार्थक होने से उसी अर्थ का बोधक होगा, जो निरर्थक है।

इस प्रकार वाद विषय-निर्णय के लिए भी किए गए।

उत्तराध्ययन सूत्र के २३वें अध्ययन में पार्श्व परम्परा के केशीकुमार श्रमण और गणधर गौतम के मध्य दोनों परम्पराओं के आचार भेद और विचारभेद को लेकर वाद हुआ है। जब पार्श्व और महावीर- इन दोनों परम्पराओं के शिष्य एक दूसरे के परिचय में आए तो उनके मन में वेश एवं व्रत-नियम के अन्तर को देखकर तर्क-वितर्क खड़ा हुआ। ऐसी स्थिति में केशीश्रमण और गौतम श्रमण ने शिष्यों की उपस्थिति में परस्पर एक-दूसरे से मिलकर धर्मवाद कर समाधान करना आवश्यक समझा। वाद करने से यह समझ में आया कि हमारा मूल लक्ष्य एक ही है, उसमें कोई अन्तर नहीं है, किन्तु मानव मन की बदलती हुई गति एवं साधकों की योग्यता को देखकर विभिन्नता की गई है। पंच महाव्रत स्थापित करने तथा श्वेत वस्त्र या निर्वस्त्र की परम्परा प्रचलित करने की कारणता शिष्यों को स्पष्ट की गई। बाह्याचार वेश का प्रयोजन केवल लोक प्रतीति है। मोक्ष रूप लक्ष्य एक है, उसके वास्तविक साधन ज्ञान-दर्शन-चारित्र सबके समान हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र^७ में अप्रत्याख्यानक्रिया के सम्बन्ध में गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा की कि क्या श्रेष्ठी और दरिद्र को, रंक और क्षत्रिय (राजा) को अप्रत्याख्यान क्रिया अर्थात् कर्मबन्ध समान होता है ? भगवान् हेतु सहित उत्तर देते हुए कहते हैं- 'गोयमा! अविरतिं पडुच्च; से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ सेटिट्ठस्स य तणुयस्स य किविणस्स य खत्तियस्स य समा चेव अपच्चवस्खाणकिरिया कज्जइ।' अर्थात् हे गौतम! अविरति के कारण श्रेष्ठी, दरिद्र, कृपण (रंक) और राजा को अप्रत्याख्यान क्रिया -कर्मबन्ध समान होता है।

यह वाद स्पष्ट कर रहा है कि कर्म-बन्धन का नियम राजा और रंक में कोई भेद नहीं करता है, वह सबके लिए समान है। अतः धर्म-साधना कोई गरीब भी उतने ही सामर्थ्य से कर सकता है, जितना कि कोई अमीर व्यक्ति।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के द्वितीय शतक में स्थविरों और श्रमणोपासकों के मध्य संयम और तप-फल के सम्बन्ध में वाद हुआ।^८ श्रमणोपासकों के पूछने पर स्थविर कहते हैं कि संयम का फल अनास्रवता और तप का फल व्यवदान अर्थात् कर्मों का विशेष रूप से काटना या मलिन आत्मा को शुद्ध करना है। प्रत्युत्तर में श्रमणोपासक पुनः प्रश्न करते हैं कि यदि संयम का फल अनास्रवता है और तप का फल व्यवदान है तो देव देवलोक में किस कारण से उत्पन्न होते हैं? यह प्रतिप्रश्न संकेत करता है कि उनके मन में यह धारणा बनी हुई है कि संयम और तप से देवलोक प्राप्त होता है। स्थविर इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि रागयुक्त तप से, सराग-संयम से, कर्मिता (कर्मक्षय न होने से), संगिता (द्रव्यासक्ति) से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

इस वाद के द्वारा श्रमणोपासकों की संयम और तप से देवलोक-प्राप्ति की मिथ्याधारणा समाप्त हो गई तथा वे संयम और तप के सम्यक् प्रयोजन को समझ पाए।

इसप्रकार जैनागमों में श्रमणों, श्रमणोपासकों और स्वयं भगवान् महावीर के वादों का वर्णन प्रस्तुत हुआ है। तत्त्वबोध के प्रयोजन से किये जाने वाले ये वाद वीतरागकथा कहे जाते हैं क्योंकि इनमें जय-पराजय को कोई स्थान नहीं होता है। धर्मप्रचार के साधन के रूप में वाद का महत्त्व रहा है। यही कारण है कि भगवान् महावीर के ऋद्धिप्राप्त शिष्यों की गणना में वाद-प्रवीण शिष्यों की पृथक् गणना की गई है। स्थानांगसूत्र में कहा है-

'समणस्स णं भगवओ महावीरस्स चत्तारि सया वादीणं सदेवमणुयासुराए परिसाए अपराजियाणं उवकोसिता वादिसंपया ह्त्था'।^९

श्रमण भगवान् महावीर के वादी मुनियों की संख्या चार सौ थी। वे देव-परिषद्, मनुज-परिषद् और असुर-परिषद् में अपराजित थे। यह उनके वादी शिष्यों की उत्कृष्ट सम्पदा थी।

स्थानांगसूत्र में कथा के भेदों का वर्णन करते हुए कहा गया है-‘चउव्विहा कहा पण्णत्ता, तंजहा- अक्खेवणी, विक्खेवणी, संवेयणी, णिवेदणी’।^{१०} कथा के चार प्रकार हैं- १ आक्षेपणी २ विक्षेपणी ३ संवेदनी ४ निर्वेदनी। संवेदनी और निर्वेदनी कथाएँ वे हैं, जिनमें गुरु अपने शिष्य को संवेग और निर्वेद की वृद्धि के लिए उपदेश देता है। आक्षेपणी कथा गुरु और शिष्य के बीच होने वाली धर्मकथा है, जिसे जैनमतानुसार वीतराग कथा और न्यायशास्त्र के अनुसार तत्त्वबुभुत्सु कथा कहा जा सकता है। इसमें आचारादि के विषय में शिष्य की शंकाओं का समाधान आचार्य करते हैं। विक्षेपणी कथा में स्वसमय और परसमय दोनों की चर्चा है। यह कथा गुरु और शिष्य में हो तब तो वीतराग कथा ही है, यदि जयार्थी प्रतिवादी के साथ कथा हो तो वह वाद-विवाद कथा में समाविष्ट होता है।

इसप्रकार ये कथाएँ ही वाद के रूप में नियोजित हैं। वाद या कथा के द्वारा व्यक्ति के मन में रही हुई गलत धारणाओं को निर्मूल किया जाता है और जिज्ञासाओं को शान्त किया जाता है। अतः वाद का मन के विज्ञान से सीधा-सीधा सम्बन्ध है। मनोविज्ञान की प्रसिद्ध अन्तर्निरीक्षण और प्रेक्षण विधियाँ वाद की अन्तःक्रिया को स्पष्ट करती हैं। विलियम वुण्ट की अन्तर्निरीक्षण विधि अन्तःवाद से तथा वाट्सन की प्रेक्षण विधि सद्वाद से सम्बद्ध है। स्वयंबुद्ध स्तर के व्यक्ति दूसरों से वाद न करके अन्तःवाद (स्वयं से वाद करना) कर स्वप्रज्ञा से प्रबुद्ध हो जाते हैं। उनके अन्तर में चलने वाली इस वाद-विधि को अन्तर्निरीक्षण विधि के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। सामान्य जन गुरु से वाद करके, विद्वानों से वाद करके प्रबुद्ध होते हैं तो उनकी यह विधि प्रेक्षण-विधि में शामिल की जा सकती है। इस विधि में अन्य व्यक्ति अर्थात् गुरु आदि शिष्य की मनोवृत्तियों का निरीक्षण कर उसे वाद शैली से प्रबुद्ध बनाते हैं।

प्रस्तुत आगमिक वादों में मनोवैज्ञानिकता स्पष्ट दृग्गोचर होती है। जैसे- भगवान् महावीर द्वारा सकडालपुत्र को सीधे अपने सिद्धान्तों को नहीं समझाया गया, अपितु उसकी पूर्वमान्यता को प्रायोगिक रूप से अव्यावहारिक सिद्ध कर पुरुषार्थ की महत्ता को बताया गया। केशीश्रमण ने राजा प्रदेशी को समझाने में उन्हीं तर्कों को खण्डित करने वाले तर्क दिए, न कि अन्य तर्क। यह प्रतीतिगम्य है कि जब तक व्यक्ति को स्वयं के तर्क दोषपूर्ण नहीं लगते तब तक अन्य हेतु अथवा दूसरे के सिद्धान्त उसको

बुद्धिगम्य नहीं होते। इन सब बातों से केशीश्रमण की मनोज्ञता प्रकट होती है। केशी-गौतम वाद तो पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक है। वहाँ मानव-मन की बदलती हुई गति को देखते हुए बाहरी आचार-नियमों में परिवर्तन को आवश्यक बताया है। कर्मबन्ध में श्रेष्ठित्व या दरिद्रता कारण नहीं है, अपितु मन के भावों की उच्चावचता, राग-द्वेषात्मकता कारण होती है। स्थविरों द्वारा श्रमणोपासकों के मन में बनी हुई वैचारिक ग्रन्थियों को समझकर प्रत्युत्तर देना मनोवैज्ञानिकता को ही पुष्ट करता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वाद-विद्या में न केवल समुचित तर्कों से उत्तर दिया जाता है, अपितु श्रोता की मानसिकता को समझकर मनोवैज्ञानिक ढंग से उत्तर देकर श्रोता के मस्तिष्क और हृदय दोनों को सन्तुष्ट किया जाता है।

संदर्भः

१. उपायहृदय, प्रथम प्रकरण, पृष्ठ १
२. निशीथचूर्णि, २६-दृष्टव्यः जैनधर्म की हजार शिक्षाएँ, मधुकर मुनि, मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, १९७३, पृष्ठ २०३
३. उवासकदसाओ, मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०, अध्या. ७, सूत्र २००, पृ. २५१
४. राजप्रश्नीयसूत्र, सूत्र २३५-२७०, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
५. सूत्रकृतांगसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, सप्तम् अध्ययन, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सूत्र ८४७, पृ. १८९
६. वही, सूत्र ८८६, पृ. १८८
७. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, प्रथम शतक, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, उद्देशक ९, सूत्र २५, पृ. १५२
८. वही, द्वितीय शतक, उद्देशक ५, सूत्र १६-१९, पृ. २१९-२०
९. स्थानांगसूत्र, स्थान ४, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सूत्र ६४८, पृ. ४४३
१०. वही, स्थान ४

जैन एवं बौद्ध दर्शन में प्रमा का स्वरूप एवं उसके निर्धारक तत्त्व

डॉ० ज्योति सिंह

श्रमण परम्परा की धारा में बौद्ध और जैन दर्शन प्रमुख प्रवाह हैं। अन्य दर्शनों की भाँति इन दर्शनों में भी सत्य और असत्य ज्ञान के निर्धारण के विषय में सत्य ज्ञान को 'प्रमा' और असत्य ज्ञान को 'अप्रमा' कहा गया है। ज्ञान यावत् व्यवहार का असाधारण कारण है। प्रत्येक वस्तु ज्ञान के द्वारा ही ज्ञात हो सकती है। वस्तु के ज्ञान के पश्चात् उससे स्वार्थ की सिद्धि की आशा होने पर उसे पाने की, स्वार्थ-विघात की आशंका होने पर उसे हटाने की तथा स्वार्थ एवं स्वार्थ-विघात दोनों की असंभावना में औदासीन्य की प्रवृत्ति देखी जाती है। यदा-कदा ऐसा भी होता है कि किसी वस्तु को इष्ट का साधन समझकर, उसे प्राप्त करने की चेष्टा के अनन्तर, वह वस्तु किसी अन्य प्रकार की दृष्ट होती है, जैसे शक्ति में रजत की बुद्धि। अतः प्रवृत्ति संवाद अर्थात् जो वस्तु जिस रूप में ज्ञात होती है, उसकी उसी रूप में व्यवस्थित होने एवं न होने के आधार पर भी ज्ञान का भेद होना आवश्यक है। चिंतकों ने सम्पूर्ण व्यवहार के ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने पर भी संवादी एवं विसंवादी रूप में उसके द्विधा विभक्त-स्वरूप के आधार पर उसके प्रमा एवं अप्रमा दो भेद किये हैं। जिस ज्ञान के विषय का प्रवृत्ति के साथ संवाद देखा उसे प्रमात्मक तथा जिस ज्ञान के साथ प्रवृत्ति का विसंवाद देखा उसे अप्रमात्मक या भ्रम कहा।^१

प्रमा के स्वरूप और उसके निर्धारक तत्त्वों की समस्या यह है कि सामान्यतः सत्य ज्ञान को प्रमा तथा असत्य ज्ञान को अप्रमा कहा जाता है। भारतीय दर्शनों में भी अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार प्रमा का स्वरूप निर्धारण किया गया है। जैसे कोई दार्शनिक संप्रदाय अनधिगतता (नवीनता) को प्रमा का निर्धारक तत्त्व मानते हैं तो अन्य दार्शनिक संप्रदाय अबाधिता को प्रमा का निर्धारक तत्त्व मानते हैं, तो कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं जो उपयोगिता को प्रमा की प्रमुख कसौटी या निर्धारक तत्त्व मानने पर बल देते हैं। अतएव अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप, निश्चित व्यवहार की उपपत्ति के लिए दार्शनिकों ने प्रमात्मक ज्ञान की विभिन्न परिभाषायें प्रस्तुत की हैं। प्रमात्मक ज्ञान की परिभाषाओं में इस विभिन्नता का हेतु, विभिन्न संप्रदायों के तत्त्व विनिश्चय में उपजीव्य सूक्ष्म एवं स्थूल-प्रपंच के प्रति उनका विशेष दृष्टिकोण है। मैंने अपने शोधपत्र में जैन और बौद्ध दर्शन के प्रमा के स्वरूप व निर्धारक तत्त्व पर क्रमशः विचार किया है क्योंकि इन दोनों दर्शनों में आचार मीमांसा व संस्कृति की दृष्टि में समानता है परन्तु प्रमा के विषय में पर्याप्त भेद है।

सर्वप्रथम बौद्ध दार्शनिक ज्ञान को प्रमाण और अप्रमाण भेद से द्विधा विभक्त स्वीकार करते हैं। यहाँ 'प्रमाण' शब्द 'प्रमा' का ही अपर पर्याय है। बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर ने वैध ज्ञान अर्थात्, प्रमा को अनधिगत, अविस्वादी और अर्थक्रिया समर्थ कहा है। धर्मोत्तर के अनुसार प्रमा का महत्त्व उस वस्तु को प्राप्त करने वाली क्रिया में सहयोग देने में है। जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है। अर्थात् किसी वस्तु 'क' के ज्ञान से यदि हम 'क' को पा ले रहे हैं तो 'क' का ज्ञान वैध है। धर्मोत्तर का मानना है कि अधिगत ज्ञान से इस प्रकार के लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती अर्थात् जब प्रथमतया हमें उस विषय का ज्ञान होता है तभी हम वस्तु की ओर आगे बढ़ते हैं। दुबारा प्राप्त ज्ञान आगे बढ़ने में हमारी सहायता प्रेरक रूप में करता है। अतः इस प्रकार का ज्ञान अनधिगत नहीं है, प्रमा नहीं है। बौद्ध दर्शन की इस दृष्टि से स्मृति प्रमा नहीं है। संशय और भ्रम भी प्रमा नहीं है क्योंकि इससे भी किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। भ्रामक ज्ञान लक्ष्य प्राप्ति में साधक न होने के कारण प्रमा के अन्तर्गत नहीं आता। संशय में एक ही वस्तु विषयक ज्ञान एक ही समय में विभिन्न कोटिक ज्ञान उद्भासित करता है। ऐसा किसी भी वस्तु स्वरूप के लिए संभव नहीं है और संशय भी लक्ष्य की प्राप्ति में साधक नहीं होता है। इसी कारण बौद्ध मत तो स्पष्ट रूप से इस विषय पर आग्रह करता है कि अनधिगतता प्रमा का आवश्यक लक्षण है। इसके अनुसार अधिगत (ज्ञात) ज्ञान प्रमा की श्रेणी में नहीं आता।² अतः बौद्ध दर्शन का मत है कि किसी भी ज्ञान में जब तक निश्चितता या संशयरहितता तथा अनधिगतता की अनुभूति न हो, वह प्रमा नहीं होता।³

बौद्ध अविस्वादिता को भी प्रमा का अनिवार्य लक्षण या निर्धारक तत्त्व मानते हैं। बौद्धों द्वारा दिया गया 'अविस्वादी' का अर्थ भाट्ट मीमांसकों के 'अविस्वादी' के अर्थ से भिन्न है। बौद्धों के अनुसार ज्ञान की वस्तु अगर उस ज्ञान के माध्यम से प्राप्त की जा सके तो ज्ञान अविस्वादी है और वह प्रमा की कोटि में आ सकती है। जैसे पर्वत पर धूम को देखकर हमें अग्नि का ज्ञान हो रहा है। अग्नि के इस ज्ञान से उस स्थान पर जाकर यथार्थतः अग्नि प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार बौद्ध प्रमा की व्यवहारवादी परिभाषा देते हैं। उनके अनुसार प्रमा का चरम उद्देश्य अर्थ सिद्धि है इसलिए वे अविस्वादिता को प्रमा का प्रमुख निर्धारक तत्त्व मानते हैं। बौद्धों के द्वारा बतलाये गये प्रमा के इस अविस्वादिता के लक्षण का और अधिक स्पष्ट रूप डॉ० अम्बिका दत्त शर्मा अपनी पुस्तक में वर्णित करते हैं कि अविस्वादिता भी दो प्रकार से देखा गया है- व्यवहार अविस्वादिता तथा ज्ञान अविस्वादिता, जिसे दूसरे शब्दों में अबाधिता भी कह सकते हैं। वास्तव में यह दोनों प्रकार के अविस्वादिता परस्पर अत्यधिक घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। ज्ञान की अबाधिता भी प्रायः व्यवहार के

अविसंवाद के रूप में ही परिलक्षित होती है। किसी वस्तु का ज्ञान शून्य में प्राप्त नहीं होता बल्कि व्यवहार में ही होता है। पहले हमें किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है, उससे हमें कुछ आकांक्षा होती है तथा हम क्रिया में विशेष रूप से प्रवृत्त होते हैं और व्यवहार अथवा क्रिया एवं उसके ज्ञान का यह क्रम निरंतर चलता रहता है। इस समस्त व्यवहार तथा उसके साथ ही उसके ज्ञान में यदि संवाद होता है तो वह प्रमा रूप माना जाता है तथा यदि इसमें किसी भी स्तर पर विसंवाद होता है तो वह ज्ञान अप्रमा रूप माना जाता है।⁴

धर्मकीर्ति ने भी धर्मोत्तर के समान प्रमा का लक्षण “अविसंवादिज्ञानम प्रमाणम्” किया है। “विसंवादः अस्यास्ति-इति विसंवादी, न विसंवादीति-अविसंवादी”। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में अविसंवादि शब्द का अर्थ है, “अपने प्रतीयमान विषय का कालांतर में त्याग न करने वाला।” इसी अर्थ को ध्यान में रखते हुए अर्थ क्रिया स्थिति को अविसंवादी शब्द से द्योतित किया गया है। “अर्थस्यक्रियायाः अर्थ क्रिया स्थिति” इस समास के अनुसार निष्पन्न अर्थ क्रिया स्थिति शब्द के अवयवार्थ के अनुसार दाह-पाक आदि का अव्यभिचार ही अर्थ क्रिया स्थिति शब्द से लिया जायेगा, अर्थात् जिनकी इच्छा से व्यक्ति अग्नि आदि अर्थों को लेता है, उन दाह-पाक आदि प्रयोजनों (फलों) का उस अर्थ (अग्नि आदि) से व्यभिचारित न होना। क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि बिना किसी उद्देश्य के मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती जैसे आग का ग्रहण दाहकादि के उद्देश्य से किया जाता है। अतः यह व्याप्ति गृहीत होती है कि जो भी दाहक होगा वह अग्नि है। इस प्रकार दाहकत्व के अग्नित्व समनियत होने के कारण दाहकत्व के प्रामाणिक ज्ञान से स्वरूप का निश्चय करना संभव है। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अर्थक्रियास्थिति का अभिप्राय है- अग्नि आदि से उत्पन्न होने वाली दाहपाक आदि अर्थ की निष्पत्ति का अविघ्न या प्रमाणान्तर से व्यभिचारित न होना। चक्षु संयोगादि के अनन्तर ज्ञात अग्नि स्वरूप कोई वस्तु प्राथमिक ज्ञान के काल में दाह-पाकादि का आग से संबंध स्वरूप-संवेदन के काल में न होने से प्राथमिक ज्ञान को स्वतः प्रमाण नहीं कहा जा सकता है।⁴ अतएव आचार्य धर्मोत्तर ने प्रमाण⁶ विषय को ‘ग्राह्य’ तथा ‘अध्यवसेय’ रूप से दो भागों में विभक्त किया है-

निर्विकल्प ज्ञान के द्वारा स्वलक्षण गृहीत होता है तथा विकल्प ज्ञानो से अध्यवसेय विषय गृहीत होता है। इस प्रकार प्रथम क्षण में वस्तु के आकार मात्र का तथा तदुत्तर क्षण में जाति गुण आदि स्वलक्षण से युक्त ज्ञान का भान होता है। इस प्रकार प्रायः ज्ञानगत प्रामाण्य, ज्ञानानन्तर से ही अध्यवसेय है। यद्यपि अभ्यासदशापन्न ज्ञान में

अर्थक्रिया स्थिति, ज्ञानान्तर से अध्यवसेय नहीं होती, तथापि वह प्रमाण ही है। अभ्यास दशापन्न-ज्ञानशब्द से ऐसे विषय का ज्ञान विवक्षित है, जिस विषय को बार-बार देखने के कारण संदेह कभी नहीं होता। जो वस्तु जिस रूप में है, उसको उसी ज्ञान में अवगाहन करने वाला ज्ञान प्रमाण होता है। अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में वस्तु की तद्रूपता का निश्चय ज्ञानान्तर संवाद से ही होता है; किन्तु अभ्यासदशापन्न ज्ञान में ज्ञानान्तर संवाद भी आवश्यक नहीं होता। अतः जहाँ अर्थक्रिया-स्थिति ज्ञानान्तर से ज्ञात होती है उसे यदि प्रमाण माना जाता है तो स्थल विशेष में स्वतः अर्थक्रिया के अनुभव होने पर उसे प्रमाण न मानने का कारण नहीं है। यही कारण है कि विसंवादाभाव चाहे अन्य साधन से गृहीत हो अथवा स्वतः गृहीत हो, उसके साधन को विवक्षित किया गया है। अतएव “संवादानुभवः प्रमा” न कहकर संवादविरुद्ध विसंवाद के अभाव की ही लक्षण में विवक्षा करके विरुद्धार्थक विनम्र के प्रवेश रूप गौरव को फलमुख होने से स्वीकार किया गया है।^७ “संवादानुभवः प्रमाणम्” प्रमा का यह लक्षण स्वीकार करने पर ज्ञानान्तर संवाद की नियमतः अपेक्षा होगी। फलतः अभ्यासदशापन्न ज्ञान जहाँ संवाद की अपेक्षा नहीं होती, प्रमाण नहीं होगा। यही कारण है कि विसंवाद भाव की विवक्षा के गुरु प्रयास को भी मान्यता प्रदान की गई। यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है कि विसंवादाभाव का प्रतियोगी विसंवाद जहाँ उपस्थिति होगा वहीं उसके अभाव ज्ञान के लिए ज्ञानान्तर संवाद की अपेक्षा होगी। अभ्यासदशापन्न ज्ञान में विसंवाद की उपस्थिति न होने से, उसके अभाव के सत्यापन के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती। फलतः सम्पूर्ण व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। दाहपाकादि की स्थिति केवल अग्नि आदि द्रव्यात्मक पदार्थों में ही संभव है, शब्दादि में तो ऐसा कोई धर्म नहीं होता। इसके विपरीत आकांक्षा, योग्यता आदि के बल पर शब्द जिस ज्ञान को उत्पन्न करता है, वह उसका विषय नहीं होता, अतः अर्थक्रिया स्थिति शब्द से उस स्थल में क्या गृहीत होगा? इस समस्या के समाधान में धर्मकीर्ति कहते हैं, ‘अविसंवाद शब्दऽप्येभिप्राय निवेदनम्’ अर्थात् अविसंवादन का तात्पर्य, वक्ता जिस अर्थ के बोधन के अभिप्राय से शब्द का प्रयोग करता है, उस अभिप्राय को बुद्धिस्थ कर देना है। लेकिन यहाँ धर्मकीर्ति के ऊपर यह आक्षेप किया जाता है कि उन्हें “अविसंवादिज्ञान प्रमाणम्” यह प्रमा सामान्य का लक्षण न करके “अबाधितो बोधः प्रमाणम्” यह सर्वप्रमानुग्राहक प्रमा लक्षण करना चाहिए। किन्तु यह आक्षेप धर्मकीर्ति के आशय को न समझने के कारण उत्पन्न हुआ है; क्योंकि शब्दज्ञान में (जिसमें अव्याप्ति की संभावना से प्र.त आक्षेप किया गया है) “अविसंवादन” का तात्पर्य अभिप्राय निवेदन से है। अतः शब्द विषय ज्ञान अभिप्राय निवेदन से ही प्रमाण माना जाता है।

धर्मकीर्ति की प्रकृत कारिका तथा प्रमा के लक्षण पर विचार के प्रसंग में यह शंका अवश्य होती है कि अनुमितिरूप ज्ञान में अविस्वादाद शब्द से क्या प्राप्त करते हैं तथा इसके ऊपर धर्मकीर्ति ने मौन क्यों धारण कर लिया? क्या वहाँ प्रमा का अन्य लक्षण अभिप्रेत है अथवा कोई अन्य उपपत्ति है, जिसे अत्यंत सरल समझकर आचार्य ने उसकी उपेक्षा की है? इस समस्या को समाहित करने के लिए यह तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं- १. अनुमिति स्थल में प्रमा का अन्य लक्षण विवक्षित होने पर “अविस्वादाद्यनुभवः प्रमा” यह प्रमा सामान्य का लक्षण नहीं रह जायेगा। २. आचार्य का अन्य लक्षण अभिप्रेत होता तो वे उसका भी उल्लेख करते जैसे शब्द प्रमा के लिए अविस्वादान के भिन्न अर्थ अभिप्राय निवेदन का उल्लेख करते हैं। अतः यही लक्षण अविकल्प रूप में सभी प्रमाओं में ग्राह्य है। अनुमिति स्थल में ‘अविस्वादान’ का अभिप्राय क्या है? इसके उत्तर में यह कह सकते हैं कि व्याप्ति स्मरण के अनन्तर पक्ष धर्मता ज्ञान से होने वाली अनुमिति में अभ्यासदशापन्न ज्ञान की तरह विसंवादाभाव सुतरां रहता है, क्योंकि धूम में अग्नि के साहचर्य का निश्चय हो जाने के पश्चात् यह शंका ही नहीं रह जाती कि धूम अग्नि को छोड़कर कहीं अन्यत्र रह सकता है अतः धूम में पक्ष वृत्तित्ता का ज्ञान होने के पश्चात् अग्नि की असंदिग्ध उपस्थिति होती है। अतः व्याप्ति के निश्चय में ज्ञानान्तर संवाद की भले ही आवश्यकता हो अनुमिति में उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती है।

न्यायादि-दर्शनों में ‘अयंघट’ यह साविकल्प प्रत्यक्षात्मक प्रमा ज्ञान तथा ‘रज्जु’ में ‘सर्प’ यह भ्रमात्मक ज्ञान के रूप में स्वीकृत है। किन्तु बौद्ध दार्शनिक इन दोनों ही ज्ञानों को कल्पनाजनित ही मानते हैं। इनके अनुसार घट के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर रूप मात्र की प्रतीति होती है, जो यथार्थतः प्रत्यक्ष है। तदनन्तर पूर्व संस्कारवासना से रसादि का स्मरण होता है। रस, रूपादि की प्रतीति कल्पना प्रयुक्त है। फलतः कल्पनापोढ़ न होने से यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। रज्जु में सर्प की प्रतीति भी कल्पना प्रयुक्त ही है। इन्द्रिय सन्निकर्ष के अनन्तर रज्जु के आकार का अवगाही निर्विकल्प ज्ञान प्रथमतः होता है। मन्द प्रकाश आदि कारणों से रज्जु स्वरूप, प्रत्यक्ष के अनन्तर स्फुटतया अवभासित नहीं होता, किन्तु पूर्वानुभूत वासनावशात् सर्प की प्रतीति होती है। दोनों में कल्पना प्रयुक्त होने पर भी घटज्ञान में अर्थ का अविस्वादाद तथा सर्प ज्ञान में विसंवादाद होने से, घटज्ञान प्रमात्मक तथा सर्पज्ञान भ्रमात्मक होता है। केवल इन्द्रियजन्य न होने से प्रत्यक्षाभास तो दोनों ही हैं। प्रमा स्वरूपस्पर्शमान मरीचिनिश्चय का प्रतिभास तो प्रत्यक्षात्मक होता है; किन्तु उसमें जल की कल्पना प्रत्यक्षाभास है। अनुमानजन्य ज्ञान किसी स्थल में प्रत्यक्ष तथा किसी स्थल में अप्रत्यक्ष दोनों ही माना जाता है। पीत शंख ज्ञान, ज्ञान-विषयभूत अर्थ के

विसंवाद के कारण प्रमाण नहीं होता। अनुमित्यात्मक ज्ञान में संस्थान मात्र की उपस्थिति ही अर्थक्रिया है, फलतः वह प्रमा है। मरुमरीचिका में जल की प्रतीति अभिमत अर्थक्रिया न होने से अप्रमा है। इस प्रकार संपूर्ण लोक प्रसिद्ध भ्रमज्ञान अविस्वादि पद के व्यावर्त्य हैं, अन्यथा उनके प्रमात्मकत्व की आपत्ति होती है। अतः अभिप्राय के अविस्वादि से ही ज्ञानों को प्रमाण माना जाता है। विसंवाद की स्थिति में कोई ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। धर्मकीर्ति ने शब्द को, वक्ता के विवक्षित अर्थ को श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित करने के कारण प्रमाण कहा है; किन्तु शब्द का यह प्रमाण्य वस्तु के यथार्थता के आधार पर नहीं है, अन्यथा विभिन्न शास्त्रों के प्रवर्तक आचार्य तत्त्व के विषय में विभिन्न मान्यतायें न उपस्थित करते। अतः अर्थ तत्त्व निबन्धन न होने से शब्द का प्रमाण्य उपेक्ष्य ही है। यही कारण है कि बौद्ध दार्शनिक शब्दादि को सार्वभौम प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि अपने-अपने सम्प्रदायों के सीमित क्षेत्र में ही शब्द, प्रमात्मक ज्ञान करा पाता है; किन्तु अपने सम्प्रदायों में शब्द की प्रमाणिकता बौद्धों को इष्ट है।

वास्तव में धर्मकीर्ति आदि का मत बौद्धों के उपयोगितावाद का ही परिष्कृत रूप है इसलिए वे उन कठिनाइयों से जो उस मत के मूल रूप से संबन्धित हैं, मुक्त नहीं हो सकते। धर्मकीर्ति के इस मत पर भी प्रश्न उठता है कि किसी ज्ञान के उत्पन्न होने पर कौन सा फल उसके अनुकूल है तथा कौन सा इसके प्रतिकूल यह निर्णय कैसे हो? उदाहरणार्थ हमें ज्ञान उत्पन्न होता है कि सामने घड़े में पानी है। हम उसे पीते हैं तथा पीने पर वह खट्टा सा पेय लगता है। हमें इससे ज्ञान होता है कि घट में पानी नहीं, अन्य कोई द्रव्य है। किन्तु इस निर्णय के पूर्व हमें यह ज्ञान होना आवश्यक है कि पानी का स्वाद किस प्रकार का होता है पुनः प्रश्न उठता है कि इस पूर्व ज्ञान का आधार क्या है और फिर पूर्णरूपेण विज्ञानवादी मीमांसा में जिसमें किसी भी स्थायी तत्त्व को हम स्थान नहीं देना चाहते हैं, यह कठिनाई और भी जटिल रूप में सामने आती है। जल का पूर्ण ज्ञान पूर्णरूपेण वैयक्तिक है अथवा उसमें अवश्य ही व्यक्ति निरपेक्षता तथा साधारणता है? यदि हम किसी स्थायी जल तत्त्व की निरपेक्ष सत्ता न मानें तब प्रत्येक व्यक्ति का जल का अनुभव न केवल भिन्न-भिन्न होगा बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि अलग-अलग समय उसका जल ग्रहण अपनी सुविधा के अनुसार भिन्न-भिन्न भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में कोई वस्तु है ही नहीं मात्र विज्ञान का एक प्रवाह है, एक के बाद दूसरी कड़ी पूर्णतः असंबन्धित होते हुए भी प्रवाहमय है तथा उसकी निरंतरता ही उसकी अनिवार्यता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान के प्रमात्व अथवा अप्रमात्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। बौद्ध स्वयं इस बात को भली प्रकार जानते हैं इसलिए उन्होंने ज्ञान तथा उसके विषय में साधारणता तथा निरपेक्षता लाने के लिए मूल भाँति की चर्चा की है। यह मूल

भाँति ही हमारे ज्ञान को साधारणता तथा निरपेक्षता प्रदान करती है, क्योंकि यह सभी मनुष्यों में समान है, किन्तु ऐसी अवस्था में यह मत अद्वैत वेदान्त के बिल्कुल समीप प्रतीत होने लगता है। बौद्धों द्वारा दी गई प्रमा की परिभाषा तथा प्रमा के अनिवार्य लक्षण 'अविसंवादी' के अर्थ की अलग ढंग से आलोचना करते हुए भाट्ट दार्शनिकों ने भी लिखा है कि 'अगर ज्ञान का उद्देश्य वस्तु को प्राप्त कर लेना ही है और वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् ही वह सिद्ध होता है तो बिजली चमकने से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह सदैव असिद्ध रहेगा क्योंकि बिजली की चमक को हम प्राप्त नहीं कर सकते'^{१९} परन्तु इस प्रकार के आक्षेप लगाना वास्तव में बौद्ध प्रमाण मीमांसा को पूर्णतया समझ न पाने के कारण है। इस प्रकार के आक्षेप एक प्रकार के भ्रम पर आधारित हैं। यह भ्रम अर्थक्रिया समर्थ वस्तु प्रदर्शकम् का अर्थ नहीं समझने के कारण हुआ है। 'अर्थक्रिया समर्थ' का अर्थ वैसा ज्ञान नहीं है जो अर्थ प्राप्ति में तत्काल साधक हो या यथार्थतः साधक हो ही। अर्थक्रिया समर्थ का अर्थ यह है कि अगर उस ज्ञान पर विश्वास करके हम उस वस्तु की प्राप्ति की चेष्टा करें तो वह वस्तु प्राप्त की जा सकेगी। जैसे जल का ज्ञान मुझे हो रहा है और यह प्रमा रूप तभी होगा जबकि प्यास लगने पर यह जल मेरी तृष्णा को शांत कर सके। इसी प्रकार बिजली की चमक की प्राप्ति के संदर्भ में प्राप्ति का अर्थ मात्र मुट्टी में बंद कर लेना नहीं होता। बिजली की चमक की अनुभूति ही उसकी प्राप्ति है। बौद्ध दर्शन में प्रमा का स्वरूप व निर्धारक तत्त्व पर विचार करने के पश्चात् सूक्ष्म अध्ययन हेतु जैन दर्शन में प्रमा का स्वरूप और उसके निर्धारक तत्त्व पर विचार करेंगे। जैन आगमों में प्रकारान्तर से प्रमाण की चर्चा बहुविध हुई है तथापि प्रमाण का प्रामाणिक विश्लेषण तर्कयुग की देन है। प्रामाण्य-अप्रामाण्य का अलग-अलग विचार करने के बजाय ज्ञान के स्वरूप के साथ ही प्रमाण का स्वरूप समझ लेने का संकेत उमास्वाति ने किया था जो आगे चलकर अन्य दार्शनिक परम्पराओं की भाँति प्रमाण के संबंध में यथोचित विवेचन, विश्लेषण का कारण बना। जैन दर्शन में प्रमाण-लक्षण के संदर्भ में बहुत सारी परिभाषायें दी गई हैं। किसी ने 'स्वपरावभासी ज्ञान' को प्रमाण बतलाया है।^{२०} तो किसी ने स्वपरावभासी बाध रहित ज्ञान^{२१} को प्रमाण कहा है। किसी की दृष्टि में 'स्वपरावभासी व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण'^{२२} है तो कोई अनधिगतार्थक अविस्वादी ज्ञान को प्रमाण कहता है।^{२३} कहीं सम्यक् ज्ञान को प्रमाण बतलाकर स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहा है।^{२४} एक स्थल पर स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को भी प्रमाण कहा गया है यद्यपि यह ध्यातव्य है कि इन लक्षणों में कोई विशेष अंतर नहीं है। जो मतभेद प्रत्यक्ष भी हो रहे हैं तो वे शब्दों के कारण हुए हैं।

उपरोक्त वर्णन से यह तो स्पष्ट है कि जैन दर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण का कारण माना गया है। यह प्रमाण ज्ञान सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण करता है और उसमें सामान्य

ज्ञान का स्वसंवेदित्व धर्म भी रहता है। प्रमाण होने से उसे अविश्ववादी भी होना अपेक्षित है। विश्ववाद, संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित अविश्ववादी सम्यक् ज्ञान प्रमाण होता है।^{१५} इस संदर्भ में अकलंक का अनधिगतार्थग्राही एवं माणिक्यनन्दि का अपूर्व शब्द समानार्थक है, जो अज्ञात अर्थ का निश्चय करने वाले ज्ञान के लिए अर्थात् प्रमा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में प्रमिति या प्रमाण अज्ञान-निवृत्ति रूप होता है, इसलिए ज्ञान ही प्रमाण माना गया है क्योंकि इष्ट वस्तु का ग्रहण और अनिष्ट वस्तु का त्याग ज्ञान के कारण ही होता है।^{१६} जैसे अंधकार की निवृत्ति में दीपक साधकतम होता है, उसी प्रकार जानने की क्रिया में साधकतमता ज्ञान की ही रहती है, इन्द्रियों आदि की नहीं। इन्द्रिय सन्निकर्षादि ज्ञान की उत्पादक सामग्रियाँ हो सकती हैं लेकिन वे अचेतन एवं अज्ञान रूप होने के कारण प्रमिति में साक्षात् कारण नहीं हो सकती है। ज्ञान जहाँ स्वयं को जानता है, वहाँ वाह्य अर्थ को भी जानता है, इसलिए स्व और पर का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण माना गया है।^{१७} प्रमाण में अर्थ का सम्यक् निर्णय भी होता है।^{१८} अर्थ के निर्णय में स्व निर्णय भी समाविष्ट होता है। प्रमाण के अन्य लक्षणों में पाये जाने वाले निश्चित बाधरहित, अदुष्टकारणजन्यतत्त्व, लोकसम्मतत्त्व, अव्यभिचारी व्यवसायात्मक आदि विशेषण प्रकारान्तर से सम्यक् अर्थ को ही व्यंजित करते हैं। जैन दर्शन में प्रमा के स्वरूप और उसके निर्धारक मानदण्डों की चर्चा करते हुए स्वामी श्री गुरुशरणानन्द ने खण्डनखण्डखाद्य-प्रमा पक्ष में लिखा है कि 'जैन-दार्शनिकों के अनुसार वस्तु की सत्ता में ज्ञानमात्र प्रमाण है'। यद्यपि अन्य दर्शनों में इन्द्रियादि को भी प्रमाण शब्द से व्यवहृत किया गया है, तथापि जैन दार्शनिकों की यह दृष्टि है कि जो अपनी सत्ता के लिए अन्य साधन की अपेक्षा न करे तथा स्वयं दूसरे सत्ता प्रमाणित करे, वही प्रमाण शब्द से व्यवहृत हो सकता है। इस परिभाषा की संगति संपूर्ण ज्ञानों में होने से संपूर्ण ज्ञान प्रमाण है। बाध की स्थिति में ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतएव न्यायावतार में प्रमाण का लक्षण, **“प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधविवर्जितम्”** इस प्रकार किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान अपना तथा अन्य का प्रकाशन करें तथा जिसका विषय बाधित न हो वह प्रमाण है। 'घटमहं जानामि' इत्यादि ज्ञानों में ज्ञान की विषयता प्रकाशित होती है अतः घटादि अर्थों की तरह ज्ञान भी, ज्ञान विषयता प्रकाशित होता है। अतएव 'अयं घट' के समान 'घटमहं जानामि' यह ज्ञान भी प्रमाण है। इस प्रकार सम्यगर्थ के निर्णायक ज्ञान को प्रमाण कहेंगे; क्योंकि यही ज्ञान बाधित नहीं होता। फलतः **“सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्”** यह प्रमाण मीमांसा प्रोक्त लक्षण भी उपर्युक्त अर्थों की ही विवेचना करता है जो सर्वथा जैन सिद्धांत सम्मत है।^{१९}

न्यायदर्शन, मीमांसा दर्शन और बौद्ध नैयायिक स्मृति को अप्रमा मानते हैं किन्तु जैन दर्शन स्मृति को प्रमा रूप मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार स्मृति केवल पिछले अनुभवों के संस्कारों की केवल पुनः अभिव्यक्ति नहीं है। जैन दर्शन ज्ञान के पाँच प्रकार मानते हैं- मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय, केवल ज्ञान। मति ज्ञान साधारण ज्ञान है, जो इन्द्रिय से अप्रत्यक्ष संबंध द्वारा प्राप्त होता है, इसी के अन्तर्गत 'स्मृति' संज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञा अथवा पहचान और तर्क अथवा प्रत्यक्ष के आधार पर किया गया आगमन अनुमान, अभिनिबोध या अनुमान अथवा निगमन विधि का अनुमान। मति ज्ञान के तीन भेद किए गये हैं- उपलब्धि अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान भावना अथवा स्मृति और उपभोग अथवा अर्धग्रहण। यथा-

ग्रहियमाणग्राहिण इव गृहीत ग्राहिणोऽपि ना प्रामाण्यम्।^{१०}

न स्मृतेर प्रमाणत्वं गृहीत ग्राहिताकृतम्।

अपि त्यनर्थ जन्यत्वं तदाप्रामाण्य कारणम्।^{११}

अर्थात् स्मृति भी परिमाणात्मक होती है, जो विचारक उसे अप्रमाणिक कहते हैं वे भी संस्कार मात्र जन्यता के कारण ही ऐसा कहते हैं। स्पष्ट है कि अर्थ से उत्पत्ति न होना ही स्मृति के अप्रामाण्य का मूल है। फलतः ग्रहीतग्राहित्व को अप्रामाण्य का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता। वेदान्त परिभाषाकार ने भी इसी हेतु से स्मृति को प्रमाण माना है।^{१२}

स्मृति को इसलिए अप्रमा नहीं कह सकते कि वह भूतकाल का विषय प्रस्तुत करती है। यह उतनी ही वस्तुनिष्ठ है जितनी कि वे वस्तुयें हैं जो वर्तमान में पायी जाती हैं। जब अनुमान ज्ञान होता है तो स्मृति उसमें सहायक होती है। अनुमान के लिए स्मृति आवश्यक है। स्मृति जन्य ज्ञान इतना उपयोगी है कि अल्प ज्ञान के साधनों में इसका उपयोग जरूरी माना गया है। स्मृति के प्रमात्व की अवहेलना नहीं कर सकते। भूतकाल के ज्ञान तथा अनुमान द्वारा ज्ञान तथा उपमान प्रमाण में भी स्मृति जन्य ज्ञान की उपयोगिता है। स्मृति प्रमात्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। स्मृति का विषय वास्तव में वस्तु स्थिति न होकर हमारा पूर्व ज्ञान ही है, वही उसका प्रदत्त है तथा उसी की अनुरूपता पर स्मृति ही प्रमाण ज्ञान पूर्णरूपेण वैयक्तिक घटना है तथा स्मृति के अतिरिक्त किसी भी अन्य माध्यम से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए पूर्वज्ञान के विषय में स्मृति को प्रमाण मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। स्मृति भी यथार्थ अथवा अयथार्थ हो सकती है। अतः प्रमा तथा अप्रमा के भेद को स्मृति के संदर्भ में करके स्मृति को प्रमा के अंतर्गत ही माना जाना चाहिए। जैन दार्शनिकों ने सम्यक् ज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा है-

यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तारेण वा।

यो व बोधस्तामत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः।।

अर्थात् तत्त्वों का उनका अवस्था के अनुरूप संक्षेप या विस्तार से जो बोध होता है उसे ही विद्वान् लोग सम्यक् ज्ञान कहते हैं। मध्वाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में भी इसकी टीका की है-

येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन

स्वाभावेन मोहसंशयरहित्वेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्।^{२३}

अर्थात् जिस स्वभाव अथवा रूप में जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं उसी रूप में मोह तथा संशय से रहित होकर उन्हें जानना सम्यक् ज्ञान है। ज्ञान की इस परिभाषा से तीन बातें स्पष्ट हैं- १. जिस रूप में पदार्थ व्यवस्थित है उन्हें उसी रूप में जानना प्रमा है (इस तथ्य से जैन दर्शन न्याय के समीप दिखलाई देता है)। २. वस्तु को मोह से परे अर्थात् पूर्वाग्रह से परे होकर जानना प्रमा है तथा ३. प्रमा संशय रहित ज्ञान है। इस प्रकार जैन ज्ञानमीमांसा में प्रमा के व्यवहारवादी पक्ष के अनुसार प्रमा की ये तीन उपाधियाँ बताई गई हैं जिसके द्वारा प्रमा के स्वरूप का निर्धारण होता है।

उपरोक्त विवेचन में जैन और बौद्ध दर्शन के प्रमा के स्वरूप तथा उसके निर्धारक तत्त्व की व्याख्या स्पष्ट रूप से की गयी है। सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन में प्रमा के निर्धारण में तीन लक्षण अपेक्षित हैं- प्रथम अज्ञात अर्थ के प्रकाशक के रूप में, द्वितीय अविस्वादी ज्ञान रूप में तथा तृतीय अर्थसारूप्य के रूप में। वहीं जैन दर्शन में प्रमा से आशय है स्व एवं पर अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान प्रदान कराने वाला। जैन दार्शनिक बौद्धाभिमत निर्विकल्पक ज्ञान को अव्यवसायात्मक होने के कारण प्रमाण नहीं मानते हैं। जैन दार्शनिक प्रमाण को ज्ञानात्मक मानने के साथ निश्चयात्मक भी मानते हैं। निश्चयात्मकता तथा व्यवसायात्मकता ही जैन दर्शन का प्रमुख लक्षण है, जो उसे बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित प्रमाण लक्षण से पृथक् करती है। यद्यपि बौद्ध दर्शन के प्रमाण से जैन प्रमाण लक्षण में अनधिगतार्थग्रहिता एवं अविस्वादिता का भी समावेश हुआ है। किन्तु जैन असंवादित को निश्चयात्मकता में फलित करते हैं। जबकि बौद्ध दर्शन के क्षणिकवादी होने से जैन दार्शनिक कहते हैं कि बौद्ध तत्त्वमीमांसा में दृष्ट अर्थ प्राप्त नहीं होता अपितु अन्य अर्थ प्राप्त होता है। क्योंकि बौद्ध क्षणिकवादी हैं, वे स्मृति को भी प्रमाण नहीं मानते। जैन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण की सविकल्पक, व्यवसायात्मक एवं संव्यवहार के लिए उपयोगी मानने के कारण संवादकतागत वे दोष नहीं आते जो बौद्ध दार्शनिकों द्वारा साथ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष एवं भ्रान्तज्ञान रूप अनुमान प्रमाण के आते हैं।

इस प्रकार इन दार्शनिकों ने अपनी मान्यताओं के आधार पर ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जिसके आधार पर व्यवहार को समन्वित करने पर भी तत्त्व एवं तत्त्व साधन के प्रति उनका दृष्टिकोण सार्थक रहे।

सन्दर्भ :

१. खण्डनखण्डखाद्य-प्रमापक्ष, (कुलपति डॉ० मण्डन मिश्र की प्रस्तावना से अलंकृत) स्वामी श्री गुरुशरणानन्द, डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द, संस्कृत वि०वि०, वाराणसी
२. भारतीय दर्शन (ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा), डॉ० एच० एन० मिश्रा, पृ० २५
३. भारतीय दार्शनिक समस्याएँ, डॉ० नन्द किशोर शर्मा, पृ० ६०
४. वही, पृ० ६१
५. खण्डनखण्डखाद्य-प्रमापक्ष, पूर्वोक्त, पृ० ४६
६. द्विविधो हि प्रमाणस्य विषयो ग्रहयोऽध्यवसेयश्च - न्यायबिन्दु टीका, पृ० १६
७. खण्डनखण्डखाद्यःप्रमापक्ष, पृ० ४६-४७
८. एतच्चानुमान ज्ञानं क्वचिद् प्रत्यक्षं क्वचिद् प्रत्यक्षमेव, प्रमाणवार्तिक भाष्य, पृ० ३३२
९. भारतीय ज्ञानमीमांसा, डॉ० नीलिमा सिन्हा, पृ० ३५
१०. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् - स्वयंभूस्तोत्र, ६३
११. प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधविर्वजितम्, न्यायावतार, १
१२. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्माग्राहकं मतम्।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते। लघीयस्त्रय, ६०
१३. प्रमाणं विसंवादिज्ञानमनधिगतार्थधिगम्लक्षणत्वात्। अष्टशती, अष्टसहस्री, पृ १७५
१४. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्, परीक्षामुख १-१
१५. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। प्रमाणपरीक्षा, विद्यानन्द, सम्पा. दरबारीलाल कोठिया, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, १९७७, पृ:१
१६. परीक्षामुख - १/२
१७. प्रमाणनयतत्त्वालोक, १/२
१८. प्रमाणमीमांसा, १/१/२
१९. वही
२०. प्रमाणमीमांसा, १/१/४
२१. न्यायमंजरी, पृ० २३
२२. वेदांतपरिभाषा, पृ० १६
२३. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १३७

English Section

CONCEPT OF NIKᅒEPA (POSITING) IN JAINA PHILOSOPHY

Dr. Shriprakash Pandey

In Jaina philosophy, to determine the actual meaning of word (vācyārtha), there are two principal theories i.e. (1) Theory of *Naya* (Standpoints/viewpoints) and (2) *Nikᅒepa* (positing/symbols/reports of words). Here, I would deal with *Nikᅒepa*.

Language is means of communication. All practical intercourse or exchange of knowledge has language for its chief instrument. Language is a constituent of words. When it is couched or embodied in language, intangible knowledge becomes tangible and hence conveyable. We know that the language is made of words. There are numerous languages which constituent millions of words. Each language use different words for communication and to explain the objects. A word expresses numerous modes and shades of its import. For the expression of such modes and shades the selfsame word is qualified by a number of adjuncts. In other words one and the same word used, is employed to yield several meanings depending on the purpose of context. For example, in our communication, we use the word 'Rājā' in many senses. 'Rājā' may be the name of an individual, 'Rājā' may be an actor playing the role of a king in a drama, it may be used for someone who happened to be a king in the past, the present king or the would be king. But unless we know the context in which word Rājā is used, it is difficult to understand the exact content of the word. It is therefore, necessary to have knowledge of the use of language and the definite content of the meaning of the words that we use. Here comes the function of *Nikᅒepa*. According to Ācārya Yaśovijaya '*Nikᅒepa* is that specific (verbal) construct which eliminates the irrelevant and applies appropriately the relevant meaning of the word as per context.'¹ In fact, the function of *Nikᅒepa* is to determine the meaning of the word in the same context in which the word is spoken. The essence of the *Nikᅒepavāda* is to

study the implications of the meanings in the words and in their definiteness and to try to find out the implication of the words in meaning.

Nikṣepa is also used in the sense of *Nyāsa* where it means implication and clarification.

Background:

The method of *Nikṣepa* was developed in the Āgamic period itself. In the speculative period and also in the period of logical development, the method continued to flourish. While rhetorics gives the method of determining the particular meaning of a multi-sensed word, it is only the commentaries on the Jaina Āgamas, which give the method of determining the intended meaning of a uni-sensed word. This method is useful not only for the treatises on logic but the analytic approach of this method has a universal utility in that it is a valuable instrument for defining the intended meaning and purpose of any systematic treatise on any subject.²

If we go through the development of the knowledge and practical behaviour including verbal expression, we find that primarily - the object in its wholeness is known through valid cognition (*Pramāṇā*), and subsequently the same object is cognised in parts through the *Nayas* (viewpoints/standpoints). All our knowledge is synthetic in the beginning, and becomes analytic at the next stage. When we know anything obviously we name it. For example, a thing of particular shape and capable of holding water is named as 'jar'. This nomenclature is responsible for the relationship of denotative and denotatum between the word 'jar' and its referent (the objective jar). This is the initial stage of word-meaning relationship which undergoes semantic expansion in due course. Thus a drawing or a picture of a jar, though incapable of carrying water, is also called jar; likewise a mass of clay and a potsherd is also called jar. At this stage of semantic expansion it becomes imperative to ascertain the

intended meaning of a word precisely in a particular context of its use. This method of knowing the intended meaning is called *Nikṣepa*.³

The Basis of Nikṣepa

The basis of *nikṣepa* can be analyzed into four aspects as (1) primary (pradhāna), (2) secondary (apradhāna), (3) imagined (kalpita) and un-imagined (akalpita). Out of *nāma*, *sthāpanā*, *dravya* and *bhāva*, *bhāva*, is un-imagined *drṣṭi*, hence it is primary. Other three are being concerned with the mental constructions fall into primary.⁴ These three are expressions, which are primarily concerned with grammatical and linguistic analysis of the statements and not so much with the expositions of the nature of the object.

Utility of Nikṣepa

Nikṣepa is dialectical technique. According to *Anuyogadvāra-sūtra* the main function of *nikṣepa* is to clear the meaning and to find a definite meaning of the words. The function of *nikṣepa* as *Laghīyastraya*⁵ describes is to remove the inadequate meaning of a word and to present the exact meaning. It removes the ignorance, doubt or perversity of meaning and determines the exact meaning of the word used. Pt. Sukhalalji Sanghvi in his commentary on *Tattvārthasūtra* writes, 'the chief medium of all the human conduct and transaction of knowledge is language. According to the intention of the speaker and the given context, the same word may be used in different meanings. In any case, four meanings at least are had by each and every word. It is these four meanings that are the four classification of its general meaning. This classification is known as *nikṣepa* by knowing which the intention of the speaker is easily and clearly known.'⁶

On account of the definition of the *nikṣepa*, a natural question arises as to what is the necessity of the theory of *nikṣepa* in the logical analysis of the meaning of the term, when the theories like *Pramāṇa* (valid knowledge) and *Naya* (theory of standpoint) are already

introduced by Jaina *Ācāryas* for the valid knowledge of the nature of the object?

The answer is that *pramāṇa* and *naya* are concerned with the knowledge of the object fully or partially respectively, but *nikṣepa* is more concerned with linguistic use of the words and their meanings. It is a dialectical technique. The utterance of a word expresses the meaning that the speaker intends to in addition to the meaning that accrues to the word.

The unintended meanings of the words create confusion and ambiguity in the use of the words. For the knowledge of an object we depend on language, which has its limitations. The language sometimes presents difficulties in understanding the connotation of the word because the real meaning and the meaning, which the speaker intends, may differ. Therefore, the meaning of the words can be considered as of two types: (1) Primary meaning, and (2) Secondary meaning. To make a distinction between the two, it is important to analyze the linguistic function of *nikṣepa*. This function is performed by four types of *nikṣepa* i.e. *nāma*, *sthāpanā*, *dravya* and *bhāva*. The object of these different forms of *nikṣepa* is primarily to dispel errors and misunderstandings about the meaning of the words used to explain the things.

The types of Nikṣepa

Tattvārtha-sūtra lists four categories of positing i.e. '*nāma-sthāpanā-dravya-bhāvatas tannyāsaḥ*'⁷

Nikṣepa is of four types:

- (1) *Nāma-nikṣepa* (Namal Positing)
- (2) *Sthāpanā-nikṣepa* (Representational Positing)
- (3) *Dravya-nikṣepa* (Substantive Positing)
- (4) *Bhāva-nikṣepa* (Modal Positing)

We have one more classification of *nikṣepa* based on *Vargaṇās*. Accordingly there are six types of *Vargaṇā-nikṣepa*⁸:

1. Nāma-vargaṇā
2. Sthāpanā-vargaṇā
3. Dravya-vargaṇā
4. Kṣetra-vargaṇā
5. Kāla-vargaṇā, and
6. Bhāva-vargaṇā

In *Ṣaṭkhaṇḍāgama* and *Dhavalā* all the *prakaraṇas* are defined having used these six types of *nikṣepas*. In *Ślokavārtika*⁹, Vidyānanda maintains that there may be infinite number of *Nikṣepas* but all can be included in above mentioned four types of *Nikṣepas* maintained by *Tattvārtha-sūtra*.

(1) Nāma-nikṣepa¹⁰ (Namal Positioning)

The namal positioning refers to the name especially the proper name arbitrarily given to an object or person without considering its etymological meaning and irrespective of the qualities suggested by the name. Mostly it is gathered on the basis of convention set up by the father, mother or some other people.¹¹ For example the name of an ugly person may be 'Sudarśana' (good-looking) or the name of a very poor person may be Lakṣmī Nārāyana. However, if the names given to the individuals do acquire the connotation suggested by the name, it would be *bhāva-nikṣepa*. The namal positioning refers to proper names, but some proper names have their various modes of expressions or synonyms suggesting different meanings. For example *Indra* is also called Devendra, Surendra, Purandara, Śakra etc. But a proper name given to an individual or a cowman (Gopālaputra) cannot be exchanged to any one of these synonyms. *Indra* is always called *Indra*. The words which are meaningless or who evolved accidentally like *Ḍittha* and *Ḍavittha*, when used as symbols (sarṅketa), are called *nāma*. Thus the identity of name with its object is conventional (upacārataḥ).

With points of view of time (kāla) *Nāma-nikṣepa* has two aspects: one is permanent and the other is temporary. The names, which are

permanent given to the eternal objects, refer to *Śāsvata-nāma-nikṣepa* (eternal namal positing) as *Siddhaśilā* (abode of liberated souls), *Sūrya* (Sun), *Loka* (the universe) etc. In the case where there are modifications and developments, it is temporary or *Aśāsvata-nāma-nikṣepa* (non-eternal namal positing). From the point of view of *Meru* etc, it lasts as long as the objects, whereas in case of the names like 'Devadatta' etc. they do not last as long as object because these names are changed even if the object is existent..

Types of Nāma-nikṣepa¹²

(1) Jātināma (Name Indicating Generality)

The *Sāmānya* (generality) which is characterized by existence (tadbhāva) and similarity (sādrśya) is called *Jāti* e.g. cow, man, *ghaṭa* (pitcher), *paṭa* (cloth) etc.

(2) Dravya-nāma (Name Indicating Substance)

It is of tow types:

(i) Samavāya-dravya (Name indicating inherent Substance)

Which is inherent and relatively identical with substance is called *samavāya-dravya*. For instance: to call one-eyed person, as *Kānā* (blind with one eye) is *samavāya-dravya-nāma nikṣepa*. In this instance, a blind man's eye is inherent in the substance (the man as a whole).

(ii) Saṁyoga-dravya-nāma (Name indicating union with Substance)

When we name a thing due to its union with any independent substance it is called *saṁyoga-dravya-nāma*. For instance *daṇḍa* (stick), *chatra* (umbrella) etc. are independent existing substance but the person who possesses *daṇḍa* and *chatra* is called *daṇḍī* and *chatrī* respectively.

It is of eight types:

With regard to one and many *Jīvas* (souls) and *Ajīvas* (non-souls) with union and predication made about them, there can be only eight types of predication:

(i) *Eka-jīva* (one soul), (ii) *Nānā-jīva* (many souls), (iii) *Eka-ajīva* (one non-soul), (iv) *Nānā-ajīva* (many-non-souls), (v) *Eka-jīva-eka-ajīva* (one soul one non-soul), (vi) *Eka-jīva-nānā-ajīva* (one soul many non-souls), (vii) *Nānā-jīva-eka-ajīva* (many souls and one non-souls), (viii) *Nānā-jīva-nānā-ajīva* (many-souls many non-souls).

(3) **Guṇa-vācaka-nāma** (Name indicating qualities)

That which is opposite and non-opposite to modes is called quality (guṇa) e.g. a black blooded person is called *Kṛṣṇa-rudhira* (one whose blood is black). These names are given due to qualities like black, red, etc., the substance has.

(4) **Kriyā-nāma** (Name indicating action)

When a person is named on the basis of his activity or occupation it is called *kriyā-nāma*. For example: one who sings, is called singer, one who dance is called dancer etc.

(2) **Sthāpanā-nikṣepa**¹³ (Representational Positing)

Sthāpanā Nikṣepa refers to the identification of the meaning with the word. When in a copy, statue, photograph or picture of an object, we superimpose or establish the real meaning of the object and designate them by that very name, then there is Representational Positing (*Sthāpanā-nikṣepa*) viz. to call *Jina* image as *Jina*, Buddha image as Buddha etc. Here we employ the term ‘*Jina*’ or ‘Buddha’ in the sense of the representation of the real *Jina* or Buddha (as God). It lasts for a short in a picture etc. but lasts as long as the object in the image etc. According to Representational positing the first category of truth, the soul, can be analyzed as follows:

An object, for instance a statue or printing, may be treated as if it were a soul thought it is a soul only symbolically.

Sthāpanā-nikṣepa is of two types: 1. *Tadākāra-sthāpanā-nikṣepa* and 2. *Atadākāra-sthāpanā-nikṣepa*.¹⁴ *Dhavalā* enumerates *Sadbhāva-sthāpanā* and *Asadbhāva-sthāpanā* as its two types.¹⁵

(1) Tadākāra Sthāpanā Nikṣepa (Similar Representational Positing)

If the meaning of an object is similar to the object it is called *tadākāra-sthāpanā-nikṣepa* (Similar Representational Positing). For example to identify the picture of Devadatta as Devadatta or picture of Mahāvīra as Mahāvīra is called *tadākāra-sthāpanā-nikṣepa*. It is also called *sadbhāvanā nikṣepa*.

*Dhavalā*¹⁶ describes eleven types of *Tadākāra-sthāpanā-nikṣepa* on the basis of means and medium of which an image/ object is established.

(i) **Kāṣṭha-karma:** when the image of one, two, three and four legged creatures are carved at wooden panels, it is called *Kāṣṭha-kārma*.

(ii) **Citra-karma:** When these four types of images are sketched on the wall, cloth and a pillar by ochre etc. is called *Citra-karma*.

(iii) **Pota-karma:** When the image of elephant, horse, man, women, bullock, lion etc. is carved on the special piece of cloth, it is called *Pota-karma*.

(iv) **Lepya-karma:** to sketch the figures by the paste of clay, chalk, sand etc. is called *Lepya-karma*.

(v) **Layana-karma:** to engrave an image on the portion of a mountain is *Layanakarma*.

(vi) **Śaila-karma:** to engrave an image on the rock is called *Śaila-karma*.

(vii) **Gṛha-karma:** to prepare an image with the help of brick and piece of stone is called *Gṛha-karma*.

(viii) **Bhitti-karma:** similar to wall, the image made of straw, is called *Bhitti-karma*.

(ix) **Danta-karma:** the image engraved on the teeth of elephant is called *Danta-karma*.

(x) **Bheṇḍa-karma:** the image made of cotton and clay is called *Bheṇḍa-karma*.

(xi) **Anya-karma:** Casting images through the other mediums by molding process, like copper, silver, gold, aluminum etc. is called *anya-karma*.

(2) **Atadākāra-sthāpanā-nikṣepa (Dissimilar Representational Positing)**

If the meaning of an object is dissimilar to the object, it is called *atadākāra-sthāpanā-nikṣepa* (dissimilar representational positing). For example the signs of chess i.e. *rājā* (king), *vajīra*, (minister), *hāthī* (elephant) etc. Here we superimpose the meaning of the king, minister, elephant etc. in the dissimilar objects of the chess. It is also called *asadbhāvanā nikṣepa*.

(3) **Dravya-Nikṣepa¹⁷ (Substantive Positing)**

Dravya-nikṣepa does not refer to the mental, the physical element, like the intention as to the nature of the object. That which is the cause of the past or the future; or that which expresses the state of the object in one of the transferable forms, like, past as used in the present is called *dravya-nikṣepa* (substantive positing). For example to call Indra to one who has once experienced the state of Indra, or will experience the state of Indra in future, or the person who has been teacher once in past and presently is retired from the post of teacher, to call him at present as teacher is *dravya-nikṣepa*. According to *dravya-nikṣepa* the first category of truth, the soul, can be analyzed as follows:

A human soul may be called a celestial soul if it occupied a celestial body in a past life or is likely to occupy such a body in a future life.

Some times *dravya-nikṣepa* is used to indicate the sense of secondary, just as one who crushes the burning charcoal is called *Dravyācārya*. Here *dravyācārya* means secondary (apradhāna) *ācārya* because he does not possess the quality of the (pradhāna) *ācārya*.¹⁸ *Dravya* is also used to indicate the negation of conscious activity (upayoga-śūnyatā or *dravya-kriyā*) e.g. the worship of *Jina* even though done with devotion yet performed in unmethodical way characterized by the desire for this world (loka) and the other world (paraloka) and not free from the desire is called *dravya-kriyā*, which does not cause liberation.

The scope of *dravya-nikṣepa* is much wider. It covers the expressions relating to the past or the future as projected into the present tense. The would be king is also called king and when the king is dead his body is also referred to the king.

Dravya-nikṣepa is of two¹⁹ types:

(1) **Āgama-dravya-nikṣepa**

(2) **No-āgama-dravya-nikṣepa**

Āgama-dravya-nikṣepa refers to the implication of the meanings and the cognitive content of the meaning rather than the exact expressed form of the knowledge. The subject matter of *āgama-dravya-nikṣepa* is that *jīva* (soul) who knows about any particular scripture but he is not utilizing the knowledge of the same presently. Of course, he had been utilizing it in the past and will utilize in future, yet he is called as *śāstrajñā* (one who possesses the knowledge of the scripture)²⁰. *Āgama-dravya-nikṣepa* is of nine²¹ types:

1. Sthita, 2. jita, 3. Paricita, 4. Vacanopagata, 5. Sūtrasama, 6. Arthasama, 7. Granthasama, 8. Nāmasama and 9. Ghoṣasama.

2. No-āgama-dravya-nikṣepa:

That, which is different from *Āgama*, is called *No-āgama-dravya-nikṣepa*. It is divided into three categories:

(i) *Jñā-śarīra*, (ii) *Bhavya-śarīra* and (iii) *Tadvyatirikta*²²

Jñā-śarīra or *Jñāyaka-śarīra* is that body through which the soul (*Ātman*) knows. When we see the dead body of a learned man, we say 'he was a learned man'. Here it is *jñā-śarīra no-āgama-dravya-nikṣepa*. When the present embodied soul is to be a learned man in future, it is called *bhavya-śarīra*. For instance, by observing the lustrous qualities of the body and characteristics of the child Devadatta, we proclaim that he would be a learned Devadatta. This is *bhavya-śarīra no-āgama dravya-nikṣepa*.

These two types of *nikṣepa* lay emphasis on body of the soul, which is only the medium. In the third, the emphasis is not so much on the body, but on the bodily activities, like movement of the hands etc. For instance when an ascetic is preaching, he may make gesture with hands. These gestures are *tad-vyatirikta no-āgama-dravya-nikṣepa*.

The *Jñāyaka-śarīra-no-karma* is further divided into three sub-categories i.e. *Bhūta*, *Vartamāna* and *Bhāvī*.

(i) **Bhūta**: On the basis of past body (last birth) to call a present embodied soul as *jñātā* (knower), e.g. to call the body of Mārīca as Bhagavāna Mahāvīra on the basis of his last birth, is *bhūta-no-āgama-dravya-nikṣepa*.

(ii) **Vartamāna**: to call the present body of that same *jñātā* as *jñātā*, is *vartamāna-no-āgama-dravya-nikṣepa*.

(iii) **Bhāvī**: If the same embodied soul is called *jñātā* keeping in view the existence of his body in future, is *bhāvī-no-āgama-dravya-nikṣepa*.

Out of past, present and future body of the soul, the past body is of three²³ types:

a) **Cyuta** (Released body after complete fruition of Age-determining-karma (*Āyusya-karma*)).

b) **Cyāvita** (Body compelled to release by suicide)

c) **Tyakta** (Released body after religious death (samādhimaraṇa), through meditation).

All these three bodies concerned after death are called *bhūta*. The last *tyakta-śarīra* is of three²⁴ types:

(i) **Bhakta-pratyākhyāna**: During the meditation, before the death comes, the *sādhaka* serves his body himself and get his body served by others. It is called *bhakta-pratyākhyāna*.

(ii) **Īngini**: During the meditation when the *sādhaka* serves his body and do not allow others to serve, then it is called *Īnginī*.

(iii) **Prāyopagamana**: when the *sādhaka* neither himself serves his body nor let others to serve him and lies on one side static like a wooden piece, it is called *prāyopagamana*.

Out of these three kinds of meditation, the first one, *Bhakta-pratyākhyāna* is further divided on the basis of duration in three types:

A) **Uttama**: When the *sādhaka* gradually reduces his food day by day for twelve years and then releases his body finally, it is called *Uttama*.

B) **Jaghanya**: At the last hours, when the *sādhaka* leaves food only for one *muhūrta* (48 minutes) just before the death, it is called *jaghanya*.

C) **Madhyama**: To release the body after gradually decreasing the food for

(4) **Bhāva-nikṣepa**²⁵ (Modal Positing)

The meaning, which satisfies the etymology of the concerned word, is a called *Bhāva-nikṣepa* (Modal Positing). In other words the meaning of the word accomplished by its actual state is *bhāva-nikṣepa*. 'Vartamāna paryāyopalakṣitaṃ dravyaṃ bhāvah'. The

substance with present modes is *bhāva*. According to this *nikṣepa*, to call a rich man as Lakṣmīpati (lord of Lakṣmī, the goddess of wealth) or to call a person as Sevaka who is actually serving one or a teacher who is actually engaged in teaching in classroom.²⁶ According to *bhāva-nikṣepa* the first category of truth, the soul, can be analyzed as follows:

The living thing may be called a soul, pointing to its actual state now.

It is also divided into two types:

(i) *Āgama-bhāva-nikṣepa* and (ii) *No-āgama-bhāva-nikṣepa*. The learned man who is teacher and useful as teacher may be called teacher, is instance of *āgama-bhāva-nikṣepa* and the teacher while engaged in teaching may be considered a teacher by the point of view of *no-āgama-bhāva-nikṣepa*. It has also three forms:²⁷ (1) *Laukika*, (2) *Kupravacanika* and (3) *Lokottara*.

(1) **Laukika**: for instance, according to common parlance of language 'Śrīphala' is auspicious.

(2) **Kuprāvacanika**: for instance, according to it 'Vināyaka' (Gaṇeśa) is called auspicious.

(3) **Lokottara**: from the ultimate point of view religion with *jñāna* (knowledge), *darśana* (faith) and *cāritra* (conduct).

The function of *bhāva-nikṣepa* is primarily concerned with the expression of the present state and the mode of the object.

These are the four types of *nikṣepa* through which everything is expressed. Though, there is infinite number of linguistic expressions, but every expression has to be in the form of four *nikṣepas*.

Inter-relation between Nāma, Sthāpanā, Dravya and Bhāva

Defining the inter-relation of this *nikṣepa*, Upādhyāya Yaśovijaya maintains that except *bhāva-nikṣepa*, all exist in all the three. The

nāma, for example, is common in every object, which is named (*nāmavāna*), representations (*sthāpanā*) and in the substance. To be devoid of *bhāva* is the characteristics of *sthāpanā* and it is equally in all the three, because all the three are devoid of *bhāva*. The *dravya* (substance) also exists in the *nāma*, *sthāpanā* and *dravya*, because it is the substance, which is named, and of which representation is made, and, of course the substance in the substance itself is present by its very nature. Therefore, it is improper to distinguish them as they are devoid of any contradictory quality.

Nevertheless, they possessed of contradictory qualities, e.g. the representational (*sthāpanā*) is different from *nāma* and substantive (*dravya*) positing. Because in *sthāpanā*, we have the form (*ākāra*), intention (*abhiprāya*), conception (*buddhi*), action (*kriyā*) and the resultant (*phala-darśana*) e.g. in the *sthāpanā* of Indra, the form as being possessed of thousand eyes. The intention of that person who gave form to the *sthāpanā* of Indra was to make the real Indra. The person who sees the form understands it as Indra undoubtedly. It is also seen that the devotees bow to that form of Indra and get the desired objects i.e. birth of son etc. This is observed neither in *nāma-Indra* nor the *dravya-Indra*. On account of these characteristics, representational positing (*sthāpanā*) is different from that of *nāma* and substantive (*dravya*) positing.

Similarly, the *dravya-nikṣepa* being potential cause of the *bhāva-nikṣepa* is also different from *nāma* and *sthāpanā*. Therefore, as the milk and the buttermilk are identical from the point of view of whiteness yet, there are different from the point of view of sweetness etc.; similarly, the *nāma* etc., though identical from one point of view, are different from another point of view.²⁸

Now a question arises that if the *bhāva* is the object then what is the use of accepting *nāma*, etc., which are devoid of *dravya*?

The answer is that even *nāma* etc. are the modes (*pariyāya*) of object and therefore, in general, they also are not excluded from

the *bhāva*. When one says Indra without adding any qualification then at first, generally we mean all four- *nāma*, *sthāpanā* etc. After that being qualified with the context, it is known specially. The *nāma*, *sthāpanā* etc. are used as the cause of the *bhāva-nikṣepa*, because the emotions are aroused with the *sthāpanā* of *Jina* in the name of *Jina* or looking the sight of the body (*dravya*) of a dead Jaina monk. Of course the three -the *nāma* etc. alone are not the immediate and unfailing cause of exciting the emotions and therefore, the old *ācāryas* accept the superiority of the *bhāva-nikṣepa*, which is the immediate and unfailing cause. *Ācārya* Yaśovijaya emphasizes that all four types of *nikṣepa* are equally important. If the name of the pitcher were not the characteristic of the pitcher, then it would not be indicator of it; because it is the cause of relation of identity with one, which is not different from it. Therefore, every thing is in the form of name. Everything has a form of its own whether it is intelligence, words or the pitcher. The form of blue and the particular posture is proved by the experience.²⁹

Everything is substantial (*dravya*) because every where the substance is experienced as the cause of the manifestation and the concealment and free from all modifications like a snake which sometimes being coiled raises his hood and sometimes contracts his body. But in every stage the substance snake is the same. Therefore, all things are substantive.

Similarly, all things are of the nature of *bhāva* because there is continuous chain of changing modes one after another and all are related with cause and effect. Thus all the objects are of the nature of *nāmādi-catuṣṭaya* (*nāma-shāpanā*, *dravya* and *bhāva*). So for as substance and modes are concerned *nāma*, *sthāpanā* and *dravya-nikṣepa* are all concerned with the substance and its attributes, while *bhāva-nikṣepa* has reference to its modes.

The Relation and arrangement of Nikṣepa with Naya

The relation between *nikṣepa* and *naya* is that of the relation of object and expression of its qualities. *Naya* is epistemological (jñānātmaka) while *nikṣepa* is concerned with the expression of the contents of knowledge through language.

There are two broad categories of *Naya* (standpoints) i.e. (I) *Dravyārthika Naya* (substantial standpoint)- those concerned with understanding of substance and (2) *Paryāyārthika Naya* (modal standpoint)-those concerned with the understanding of modes. There are two traditions in understanding these *nayas*. The first āgamic tradition represented by Jinabhadraṅgi Kṣamāśramaṇa, enumerates *naigama*, *saṁgraha*, *vyavahāra* within *dravyārthika-naya* while *ṛjusūtra* and *śabda*, *samabhirūḍha* and *evambhūta nayas*, according to him, refers to *pariyāyārthika naya*. The second logical tradition represented by Siddhasena Divākara, enumerates *Samgraha* and *Vyavahāra* within *dravyārthika* and rest in *pariyāyārthika naya*. As for *nikṣepas* are concerned, *nāma*, *sthāpanā* and *dravya* are incorporated in *dravyārthika-naya*³⁰ while *bhāva-nikṣepa* refers to the *pariyāyārthika-naya*. This is the Siddhasena Divākara's contention, which is referred by revered Jinabhadraṅgi Kṣamāśramaṇa in his *Viśeṣāvaśyaka-Bhāṣya*. Jinabhadraṅgi justifying his view of *nikṣepa* (positing) on *namaskāra* says that 'śabda, samabhirūḍha, and evambhūta accept *bhāva-nikṣepa* (modal positing) and remaining *nayas* entertain all the four types of *nikṣepa*. Some others hold that *ṛjusūtra-naya* subjects to only *nāma* and *bhāva-nikṣepa*³¹. But this is not so; because *Anuyogadvāra-sūtra* clearly mentions that *ṛjusūtra-naya* subjects to *dravya-nikṣepa*.³²

When *ṛjusūtra-naya* considers the lump of the gold as the cause of the different shapes (necklace etc.) of the gold, there is no reason why it would discord the *sthāpanā* of the Indra which has the shape of Indra and by looking at which the word Indra is uttered. In this way *ṛjusūtra-naya* accepts *nāma* and *sthāpanā* also. Some others

maintain that *saṁgraha* and *vyavahāra-naya* except *sthāpanā*, subject to remaining three (*nāma*, *dravya* and *bhāva*). But this view is not free from defects. It must be accepted that either generic (*Saṁgrahika*) or the non-generic-*naigama* (*asaṁgrahika-naigama*) does accept the *sthāpanā-nikṣepa*, because the acceptance of the *sthāpanā* is not prohibited in substantial viewpoint (*dravyārthika-naya*) except in the generic (*saṁgraha*) and empirical-viewpoint (*vyavahāra-naya*).

Generally, *nāma-nikṣepa* subjects to *naigama*, *saṁgraha* and *vyavahāra*, enumerated in *dravyārthika-naya*. As *nāma-nikṣepa* is meant for naming the objects, it is related with substance only. Modes cannot be subject matter of *nāma-nikṣepa* because they are always changing. Here a question may arise that if all the three types of *śabda-nayas* are *paryāyārthika*, then how the *nāma-nikṣepa* works there? Answer is that meaning is not important but words are important there. The word is in itself a mode. Therefore that which subjects to modes is *paryāyārthika*.

The subject matter of *sthāpanā nikṣepa* is *dravyārthika-naya* (*naigama*, *saṁgraha*, *vyavahāra*) only, because, from *tadākāra* (similar) and *ataḍākāra* (dissimilar) *nikṣepa* the substance is referred. Substance cannot be established in modes. Without the existence of the object in which the representation (*sthāpanā*) is made, *sthāpanā-nikṣepa* cannot be proved.

Dravya-nikṣepa is undoubtedly *dravyārthika* (*saṁgraha*, *vyavahāra*) because unless the existence of substance, which is *traikālika* (existing in past, present and future), is not justified, the unity between the three states cannot be proved.

Bhāva-nikṣepa subjects to modes (*paryāya*) particularly to *evambhūta-naya*.

Nikṣepa with reference to Soul:

Soul named as soul is called *nāma-nikṣepa* of soul: the *sthāpanā-nikṣepa* of the soul is the *sthāpanā* of gods etc., the *bhāva-nikṣepa*

of the soul is possessed of the subsidence of the knowledge - obscuring *karmas*. Thus these three *nikṣepas* are possible with reference to soul but not the *dravya-nikṣepa*. This would be possible, if only who is not soul at present would become a soul in future, just as one who is not god in the present is to become god in future and that is called *dravya-nikṣepa* of god. But this cannot be accepted because the existence of knowledge in a soul is considered to be without beginning and without end. But if we imagine a soul, to be devoid of qualities and modes but possessed of a beginningless knowledge, then this would be a nonexistent thing. In this way only a liberated soul would be a real soul and no other soul- therefore, this point of view is also not free from defects, as elaborated by the commentator of *Tattvārtha*.³³ One should keep in his mind that all mundane souls would be substantial but they would not be contradictory to real because it is held that the name etc. of an object are invariably concomitant with the real.³⁴

Thus, *nikṣepas* are very useful to understand the actual meaning of the word used in the given context. For example, when watching a student entering in a classroom, we say 'Rājā came', the meaning of this statement is different from that when we say 'Rājā came' watching any boy playing the role of a king at the stage of a drama. In first instance the Rājā is the name of the student while in second instance he is an artist playing the role of the king. Even today, we use the phrase like 'Mahārājā Gwalior' (the king of Gwalior) and 'Mahārājā Benaras' (the king of Benaras), but at present the meaning of the phrase is not the same as it was before 1947. Presently it is considered on the basis of *dravya-nikṣepa* while before 1947 it was considered from the point of view of *bhāva-nikṣepa*.³⁵

We have described the above-mentioned account of *Nikṣepa* on the basis of *Tattvārthasūtra*, *Jaina-tarka-bhāṣā* and other Jaina philosophical works. Mr. Banshidhar Bhatta in his '*Canonical Nikṣepa, Studies in Jaina Dialectics*'³⁶ has mentioned two major categories of *Nikṣepa* i.e. (i) Canonical *Nikṣepa* and (ii) Post

Canonical Nikṣepa. In 'Introduction' of the book he writes, 'The *Nikṣepa* plays an important part in the post canonical literature of Śvetāmbara Jains and in later Digambara works. The post canonical *nikṣepa* is a dialectical technique - and as such it is not only employed but also explained. By contrast, the canonical *nikṣepa* (nikṣepa as found in Śvetāmbara canons) is a pattern or a cluster of related patterns, and the very word *nikṣepa* does not occur. *Nikṣepas* are found in many dogmatical works of the Jaina canon, but the *nikṣepa* material (canonical *nikṣepa*) is mainly found in three works: *Vyākhyā-prajñapti*, *Jivābhigama* and *Prajñāpanā*. They cover almost half of the entire Śvetāmbara canons. These three treatises contain less exegetical matter than several other canonical works. In modern times, the *Bhagavatī*, one of the most important works amongst the three, has been studied rather intensively.

The Definition of canonical *nikṣepa* is based on the occurrence of certain terms called as determinants. Two to five determinants are used by canonical *nikṣepa*, while post canonical may have more than five. The standard determinants of the canonical *nikṣepa* are 'davva (dravya)', *khetta* (kṣetra), *kāla*, and *bhāva*. These are the very basis on which the canonical structure is determined. The canonical *nikṣepa* has at least two determinants.

Dr. Bhatta quotes two examples for the rough idea of *nikṣepa*:

(i) 'According to substance, the world has an end; according to space, the world has an end; according to time, the world has no end; according to non-physical nature, the world has no end.'

(ii) 'The world exists according to substance, space, time, and non-physical nature. According to space, it is subdivided into hell, world of human beings and heaven'

Here, substance, space, time, non-physical nature are the determinants.

The treatment of different forms of the canonical *nikṣepa* is mainly morphological. But there are historical implications as well. Different dialectical efforts probably stand for different schools in early Jainism, which does not differ much in their views.

The subdivisions of *nikṣepa* are based on few new terms coined. There are six terms of this type³⁷:

Ś. Ā. 'Śarīra' and 'Āgama'

Sāmukha *nikṣepa* with *āmukha* i.e. with programme

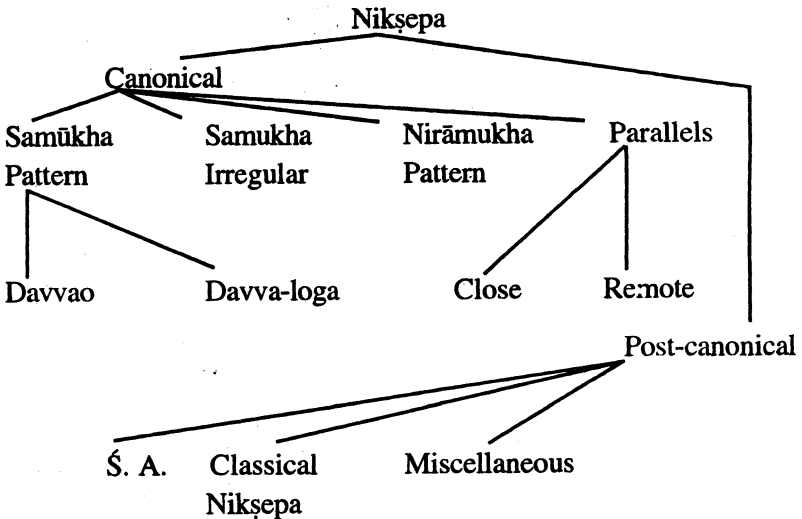
Nirāmukha *nikṣepa* without *āmukha*, i.e. without programme

Davvao *nikṣepas* introducing the determinants in the ablative case i.e. *davvao* (according to substance)

Davva-loga *nikṣepa* supplying determinant and catchword in the form of a compound i.e. *davva-loga*.

Āmukha style recurring dialectical pattern, employing 'programmes' but not to be classified as *nikṣepa*.

Dr. Bhatta has classified the forms of the *Nikṣepas* as under:



References:

1. (i) *Prakaraṇādivaśenāpratipatyā (tyā) divyavacchedayathāsthāna viniyogāya śabdārtharacanāvīśeṣā nikṣepāḥ. Jaina-tarka-bhāṣā, Upādhyāya Yśovijaya, Trans. Shobhachandra Bharilla, Sri Trilok Ratna Stha. Jain dharmik Pariksha Board, Pathardi, 1964, Nikṣepa Parichcheda, p. 68.*
- (ii) *Śabdeṣu viśeṣaṇabalena pratiniyatārthapratipādana-śakternikṣepaṇam nikṣepaḥ/ Jaina-siddhānta-dīpikā-10.42, English rendering by Satkari Mukerjee, JVB, Ladnun, 1985, p.192*
- (iii) *ñicchaye ñiṇṇaye khivadi tti ñikkhevo/ Dhavalā Ṭikā samanvita Ṣaṭkhaṇḍāgama, Eds. Hirala Jain, Sheth Shitabray Lakshmichand, Jain Sahityoddharak Fund, Karyalaya, Amaraoti, 1954, Book 1, p.10.*
2. *New Dimensions in Jain Logic, English rendering of 'Jaina Nyāya kā Vikāsa' by Nathmal Tatia, JVB, 1984, p.63*
3. *Ibid p. 64*
4. *Jaina Darśana: Svārūpa aura Viśeṣaṇa, Devendra Muni Shastri, Tarak guru Jain Granthalaya, Udaipur, 1975, p. 282*
5. *aprastutārthapakaraṇāt prastutarthavyākaraṇācca nikṣepa phalavān/ Laghiyastraya, 7.2*
6. *Tattvārtha-sūtra, Commentary by Pt. Sukhlal Sanghvi, Parshwanath Vidyapeeth, 2009, p. 6*
7. (i) *Tattvārtha-sūtra, 1/5*
- (ii) *Sanmatitarka-prakaraṇa, Ed. Pt. Sukhlal Sanghvi, 1/6*
8. *Dhavalā, 1/1, 1, 1/10/4, referred in Jainendra-siddhānta-kośa, Part II, Bharatiya Jnanapith Prakashan, 1992, p. 591*
9. *Ślokavārtika, Pūjyapāda, 2/1/5*
10. *tatra prkṛtārthanirapekṣā nāmārthānyatarapariṇatirnāma nikṣepa, Jaina-tarka-bhāṣā, p. 68.*
11. *Tattvārthasūtra, English Trans. by K. K. Dixit, L. D. Institute of Indology, 1974, p.10*
12. *Jainendra-siddhānta-kośa, Part II, p.591*
13. *yattu vastu tadarthaviyuktaṃ tadabhiprāyeṇa sthāpyate citradau tadṛśākāraṃ, akṣādau ca nirākāraṃ, citrādyapekṣa-yattvaram.....nāmasthāpanānikṣepaḥ. Jaina Tarka-Bhāṣā, Nikṣepa Parichcheda, p.69*
14. *sāyāra iyara ṭhavaṇā/ Nayacakravṛtti, 273*

15. *Dhavalā* 1/1,1./20/1

16. (i) *Dhavalā* ,(pu. 13 verse-10)

(ii) *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, 13/5,3/10/9

17. (i) *bhūtasya bhāvino vā bhāvasya kāraṇam yannikṣipyate sa dravyanikṣepaḥ. Jaina-tarka-bhāṣā*, p. 69

(ii) *anāgatapariṇāmviśeṣam pratigṛhītābhimukhyaṁ dravyaṁ// Tattvārthavārtika*, 1/5, p.28

18. *kvacid prādhānye,pi dravyanikṣepaḥ pravartate, yathā, ṅgāramardako dravyācāryaḥ, ācāryaguṇarahitvāt apradhānācāryā ityarthaḥ/ Jaina-tarka-bhāṣā*, p.69

19. (i) *taddvidham-āgama-no-āgama/ Tattvārthavārtika*, 1/5, p. 29

(ii) *Anuyogadārasūtra*, Madhukarmuni, APS, Vyavar,1987, 538 Pra., p.438

20. *Ślokavārtika* 1/5, verse 62

21. Jainendra-siddhānta-kośa, Part II, p. 591

22. *Anuyogadārasūtra*, Madhukarmuni, 540 Pra. p. 438, *Ṣaṭkhaṇḍāgama*,9/4,1 verse 61/267

23. *Anuyogadārasūtra*, Madhukarmuni, 541Pra., p.439

24. *Dhavalā* 1/11,1/23/3

25. (i) *vivakṣitakriyāviśiṣṭam svatattvaṁ yannikṣipyate sa bhāvanikṣepaḥ/ Jaina-tarka-bhāṣā*, p.70

(ii) *vartamānatatparyāyopalakṣitam dravyaṁ bhāvaḥ, Sarvārthasiddhi, Pūjyapāda*, 1/5/17/6

26. *Jaina Philosophy of Language*, Dr. Sagarmal Jain, Parshwanath Vidyapeeth, Varnasi, 2006, p. 102.

27. *Anuyogadārasūtra*, Madhukarmuni, 565 Pra., p.446

28. *nāmāpi sthāpanādravyābhyāmuktavaidharmyādeva bhidyata iti. dugdhatakrādīnām śvetattvādinā.....iti sthitaṁ.*, *Jaina-tarka-bhāṣā*, p.71

29. *Ibid*, p. 72

30. (i) *nāmaṁ ṭhavaṇā davie tti esa davvaṭṭhiyassa nikkhevo/ Sanmatitarka*, *Ibid*, 1/6

(ii) *The Philosophy of Welfare Economics of Dr. Amartya Sen and Jain Philosophy*, Trafford Publication, USA and Canada, 2011, p.267

31. *nāmāitiyaṁ davvaṭṭhiyasya bhāvo a pajjavanassa/*

saṅgaḥ vavahārā paḍhamagassa sesā u iyarassa//

svamate tu namaskāranikṣepavicārasthale, "bhāvaṃ ciya sadvaṇayāsesā icchanti savva ṇikkheve/ Viṣeṣāvaśayabhāṣya, JinAhadragaṇi Kṣamāśramaṇa, verse 2847

32. *ujjusuassa age aṇu vauṭte āgamo egaṃ daVāvassayaṃ, puhattaṃ necchai, Anuyogadvārasūtra, 14*

33. Cf. *Tattvārthabhāṣyavṛtti*, p. 48

34. *Jaina-tarka-bbhāṣā*, Engl. Trans. by Dr. D. N. Bhargava, MLBD, Delhi 1972, p. 83

35. *Jaina Philosophy of Language*, Dr. Sagarmal Jain, Parshwanath Vidyapeeth, Varnasi, 2006, p. 103.

36. *Canonical Nikṣepa, Studies in Jaina Dialectics*' (with foreword of K. Bruhn & H. Haertel, by Banshidhar Bhatta, Bharatiya Vidya Prakashan, Delhi, Reprint Delhi, 1991, 'Introduction' p.XV, XVI.

37. *Ibid*, p.40

THE COSMOPOLITAN VISION OF YAŠOVIJAYA GAṆI

Jonardon Ganeri

Two ways of World making

Speaking of a multitude of irreducible “worlds,” Nelson Goodman draws our attention to the idea that there is no one unique way of describing, depicting, representing or otherwise capturing in thought the shared space we inhabit. Made worlds—versions, views, renderings—differ from one another as a novel might differ from a painting, or a poem from a news report. If that is right, and if we nevertheless want to be able to speak of conflict and consistency between worlds, then our standards of comparison and measures of rightness must appeal to considerations other than merely correspondence with the truth. Goodman therefore says that “So long as contrasting right versions not all reducible to one are countenanced; unity is to be sought not in an ambivalent or neutral something beneath these versions but in an overall organization embracing them.”¹

Goodman’s notion of a made world performs some of the same conceptual work as is done by its counterpart in Jainism, the concept of a *naya*, a perspective, standpoint or attitude within which experience is ordered and statements are evaluated. The Jains argue that different philosophy, when they construct different philosophical systems, emphasize different stand-points.² (cf. Matilal 1998: 133). With the Jainas too, a prominent thought is that conflicting right views are to be brought together not by trying to show that there is, after all, some single truth underneath, of which the views are but different modes of presentation, but rather than there is a coordinating unity above, to which each view makes a proper but partial contribution.

This familiar distinction between top-down and bottom-up models of unity is one much in evidence in recent discourses about cosmopolitanism. In favour of a top-down approach, for example, it

has been said that “trans-disciplinary knowledge, in the cosmopolitan cause, is more readily a translational process of culture’s in-betweenness than a transcendent knowledge of what lies beyond difference, in some common pursuit of the universality of the human experience. The idea that different view-points are co-inhabitants in a single matrix, and to that extent susceptible to syncretism, is what distinguishes the cosmopolitan vision from pluralism, whose cardinal tenet is that the irreconcilable absence of consensus is itself something of political, social or philosophical value.

In early modern India, these thoughts had a political as well as philosophical importance. For much of the sixteenth and seventeenth centuries, the Sufi doctrine of *wahdat al-wujkd* (‘Unity of Being’) guided a quest for a single spiritual vision underpinning all religions. Hindu texts were translated into Persian in the belief that, suitably decoded, they could be read as speaking about that divine unity which was the proper concern of the Islamic mystic. The thought that the texts of other religions are, in Carl Ernst’s phrase, “hermeneutically continuous” with the *Quran*, served as the guiding force in an extensive translational exercise patronised by the Persianate court from Akbar through to Dara Shukoh (1615-1659). This project was certainly neither pluralist nor syncretic, but nevertheless recognised the existence of a common religious space available for joint occupation by a plurality of religions. It was a bottom-up approach to religious cosmopolitanism.

The same period was also, and presumably not coincidentally, a period of extraordinary innovation and dynamism in the philosophical activity of indigenous Sanskrit intellectuals. In particular, there arose a new school of logic, the *Navyanyāya*, whose methods and techniques were highly effective and much emulated throughout the world of Sanskrit scholarship. Training centers for *Navyanyāya* flourished in Varanasi. Navadvīpa and Mithila, attracting students from all over the Indian continent and perhaps even further a field.

Upādhyaya Yaśovijaya Gaṇi (1608-1688 AD)

It is in the context of these political and philosophical movements that I would like to examine the work of one of Jainism's great intellectuals, Yaśovijaya Gaṇi . Born in Gujarat in 1624, he died there in 1688 after a long and varied career. The Gujarat of his day was home to a diverse trading population, including Arab, Farsi, Tartar, Armenian, Dutch, French and English mercantile communities³. Roughly speaking, Yaśovijaya Gaṇi's intellectual biography can be seen as falling under three heads:

1. An apprenticeship in Varanasi studying *Navyanyāya*, a period writing,
2. Jaina philosophical treatises using the techniques and methods of *Navyanyāya*, and
3. A time spent writing works with a markedly spiritual and religious orientation.

Yaśovijaya's extended stay at a *Nyāya* teaching centre or *matha* in Varanasi lasted perhaps twelve years (from around 1642 to about 1654); certainly, it was enough to provide him, according to his own testament, with a broad knowledge of *Navyanyāya* and to earn him the respectable title *Nyāyaviśārada*, "One who is skilled in logic"⁴. According to some accounts, he came to Varanasi in the company of his teacher Muni Nayavijaya, both having disguised themselves as Brahmins in order to gain admission to the *matha*. Since, however, there are reports of Buddhists from Tibet traveling to India to study *Nyāya*, and since, after all, teaching was the chief livelihood of the *Nyāya* Pandit, the veracity of this story is open to doubt. As for the identity of Yaśovijaya Gaṇi's *matha*, is concerned, it has been conjectured that it was the one headed by Raghudeva Nyāyāṅkārā, primarily on the basis of the fact that Yaśovijaya mentions him by name in one of his works, the *Aṣṭasahasrīvivarāṇā*⁵. Raghudeva did live in Varanasi and was a prominent public intellectual of the period. He was also, though, a Bengali and a pupil of the famous Bengali Harirama Tarkavagisha. Yaśovijaya, on the other hand, frequently evinces a critical attitude towards the founding figure of Bengali *Navyanyāya*, Raghunatha Shiromani, even repeating a

piece of derisive slang about him: “Cursed is the province of Bengal, where there is the one-eyed Śiromaṇi”⁶. I think that his teacher is as likely to have been another prominent Varanasi Naiyāyika of the same period, Rudra Nyāyavācaspati. Rudra belonged to the family of a renowned Varanasi scholar whose views Raghunātha had criticised, Vidyānivāsa (as Rudra’s brother, Viśvanātha Pañcānana, tells us). The antagonism between this influential family of Naiyāyikas with strong ties to Varanasi and the followers of Raghunātha’s new school is perhaps evident in Yaśovijaya’s attitudes.

At a later stage in his career, Yaśovijaya began to write increasingly spiritualistic religious treatises, and I will shortly say more about these. According to the fullest biography of Yaśovijaya we have to date, one of the decisive events in the process leading to this transformation was Yaśovijaya’s meeting with the poet Ānandaghanajī. Before this turn towards the philosophy of the self, however, Yaśovijaya had produced several of the finest works in Jaina epistemology, including the *Jaina-Tarkabhāṣā* and the *Jaina Nyāyakhṇḍakhādyā*, utilising the methods of *Navyanyāya* in a reformulation of Jaina epistemology. It is of particular interest to see how Yaśovijaya takes the Nyāya idea that a single object can have a variegated colour (citrarūpa) - for example, that of a single pot whose parts are both blue and red - and in particular Raghunātha’s defense of this idea with the help of the new concept of non-pervasive location (avyāpya-vṛttitva), and how he carefully distinguishes this explanation of the way a single reality can have apparently mutually excluding properties from the Jaina explanation in terms of non-Absolutism (anekāntavāda). The importance of these ideas was not to be lost in the later works which will be my concern shortly, works in which a variety of ethical themes are explored within an *anekāntavāda* framework, including the moral and intellectual virtues worthy of cultivation, the nature of spiritual exercises, the idea of a spiritual path and its analogy with a medicine for the soul, and the concept of that self for the benefit of which all these ideas are developed.

Secular Intellectual Values

In one of the ethical works, the *Jñānasāra*, Yaśovijaya systematically describes thirty-two moral and intellectual virtues jointly constitutive of a virtuous character⁷. Many would be equally familiar to a Buddhist or Hindu, but two are distinctive: neutrality (*madhyasthātā*) and groundedness in all view-points (*sarvanayāśraya*). Neutrality is explained in terms of the dispassionate use of reason: a person who embodies this virtue follows wherever reason leads, rather than using reason only to defend prior opinions to which they have already been attracted.⁸ Yaśovijaya stresses that neutrality is not an end in itself, but rather than it is a means to another end. We adopt a neutral attitude, he says, in the hope that this will lead to well-being (*hita*), just as someone who knows that one among a group of herbs is restorative but does not know which one it is, acts reasonably if they swallow the entire lot.⁹ As we can see from this example, philosophy is thought of as a medicine for the soul, the value of a doctrine to be judged by its effectiveness in curing the soul of its ailments. That is why it can be reasonable to endorse several philosophical views simultaneously, just as one can take a variety of complementary medicines.

Being grounded in all view-points means giving to each view-point its proper weight within the total picture; it is akin to the “overarching organisation” in Goodman’s *Ways of World-making*. The benefit that accrues from this is again linked to the use of reason, this time the ability to engage in reasoned discourse. Someone who is so grounded can enter into a beneficial discussion about religion and ethics (*dharma*); otherwise the talk is just empty quarrelling (*śuṣkavāda-vivāda*).¹⁰ For Yaśovijaya in the *Jñānasāra*, the final goal to which the cultivation of these and the other virtues leads is the soul’s fulfillment (*pūrṇatā*), a fulfillment consisting in ‘consciousness, bliss and truth’ (*saccidānanda*).¹¹ The idea that assuming a neutral attitude towards all views is the way to fulfill partially the reminiscent of Greek Pyhrronism, where it is argued that developing an attitude of indiscriminate refusal to assent to any

view (epoche) is the means to achieve that tranquility of mind (*ataraxia*) necessary for happiness (*eudaimonia*).

Tolerance and the Critical Evaluation of Others

Paul Dundas (2004) has shown how, in the *Dharmaparīkṣā*, Yašovijaya uses the concept of neutrality as the basic for an irenic strategy towards other religions. Followers of other religious traditions can be considered as conforming to the true (i.e. Jaina) path if their attitude towards the doctrines of their own tradition which is sufficiently non-dogmatic. Dundas worries, reasonably enough, that in spite of being inclusivist, such a position nevertheless does still assert the superiority of the Jaina path. Perhaps that is why, in the *Adhyātmopaniṣat-prakaraṇa*, Yašovijaya advances another strategy. He now argues that the virtues to which Jainism gives particular prominence, namely impartiality, neutrality, and non-onesidedness, are in fact already present in the various non-Jaina systems, albeit in an only implicit form. For all the systems seek an “overarching organisation” when it comes to sorting out and arranging their internal doctrinal claims. All therefore do embody the quintessential Jaina principles and virtues in their own theoretical practice, whether or not those principles and virtues receive any explicit mention in the official meta-theory.

Let me examine this idea in more detail. Yašovijaya argues that no body of ‘theory’ (*śāstra*), whether Jaina or non-Jaina, is to be accepted merely on the basis of sectarian interest. Instead, the theory should be subject to testing, just as the purity of a sample of gold is determined by tests involving rubbing, cutting and heating.¹² In a body of theory, the relevant test is to see whether the various prescriptive and prohibitive statements pertaining to some one issue ‘rub together’, that is to say, whether they cohere with one another and pull in the same direction.¹³ For example, in Jainism the prescriptions concerning religious meditation and the prohibitions on the use of violence are coordinate and together pull in the direction of *mokṣa*.¹⁴ In practice, of course, no reasonably large and complex

body of theory will meet this test; nor can coherence be manufactured simply by 'cutting out' some statements and keeping others. The only method for dealing with such apparent incoherences as inevitably do arise is the method of conditionalised assertion (*syādvāda*) and non-onesidedness (*anaikāntya*). To say that the soul is eternal is to depict human subjectivity in one way; to say that the soul is non-eternal is to depict it in another: both depictions, in their own way, gesture at something right about what it is to be a human subject. Yaśovijaya then shows how each of the non-Jaina systems does incorporate the spirit, if not the latter, of the principle of non-onesidedness.¹⁵ Referring by name to Sāṃkhya, Vijñānavāda Buddhism, Vaiśeṣika, the three Mīmāṃsaka schools of Kumāṛila, Prabhākara and Murāri, and Advaita Vedānta, he concludes that *syādvāda* is a doctrine of all the systems (*syādvādam sārvatāntrikam*).¹⁶ The Vedāntins, for example, say that the soul is both bound and unbound, relativising those statements to the conventional and the absolute in order to avoid contradiction. Likewise, Kumāṛila says that entities are both particular and universal, conditioning these claims upon aspects of experience. Yaśovijaya concludes by bringing the discussion back to the cultivation of an attitude of neutrality. All the different systems of belief are equal in requiring of their practitioners that they adopt an attitude of balance and coordination; indeed this balance and neutrality is the very point of *śāstra*. True religious and moral discourse (*dharmavāda*) is based on this; the rest is just a sort of foolish hopping about (*bāliśa-valgana*).¹⁷ It is worth emphasising that Yaśovijaya by no means considers the doctrines of conditionalised assertion and non-onesidedness to lead to a laissez-faire relativism, for he explicitly here dismisses the Cārvāka as being too confused in their understanding of the topic of liberation even to be said to have a 'view'.¹⁸ Neutrality does not mean acceptance of every position whatever, but acceptance only of those which satisfy at least the minimal criteria of clarity and coherence needed in order legitimately to constitute a point of view.

The Self

We have seen that Yaśovijaya first identifies certain moral and intellectual virtues as being quintessentially Jainā, and how he then argues that if non-Jainā systems understood the nature of their own practice more clearly, they would see that they too embed those virtues in their conception of the philosophical path. I have also noted that the embodiment of those virtues is thought of as a means to some further end. In a final step, Yaśovijaya argues that the equanimity which is the end of the Jainā path is consistent with the realization of that universal self, consisting of truth, bliss and consciousness, also spoken of in the *Upaniṣads* and the *Gītā*.

In the first chapter of the *Adhyātmopaniṣat-prakarāṇa*, Yaśovijaya tells us that there are two different perspectives on the self. From a strictly etymological perspective, it is the one who performs a variety of actions and activities. From the perspective of ordinary linguistic practice, however, it is the mind as endowed with virtuous qualities like friendliness.¹⁹ In the second chapter, however, Yaśovijaya describes the state of true self-awareness in decidedly Upaniṣadic terms, a state which is beyond deep sleep, beyond conceptualisation, and beyond linguistic representation, and he says that it is the duty of any good *śāstra* to point out the existence and possibility of such states of true self-awareness, for they cannot be discovered by reason or experience alone. How, then, should these two visions of the self be organised, the one consisting in pure bliss and undivided consciousness, the other of a multitude of spatially bounded and active selves? One might have expected Yaśovijaya to say that both have their proper place in a non-onesided attitude towards selfhood, but in fact he gives clear preferential weighting to the unitary conception of self (a conception which he also identifies, in the final chapter, with *samatā*, a state of pure equanimity). That comes out most clearly in the *Adhyātmāsāra*, where he states unequivocally that the apparent multiplicity of selves is an illusion, likening it to the illusion of a multitude of moons caused by the eye disease *timira*, double-vision.²⁰ Having repeated once again that the self consists in

truth, consciousness and bliss, he quotes with approval *Bhagavadgītā*²¹: “The senses are high, so they say. Higher than the senses is the mind; higher than the mind is thought; while higher than thought is He (the soul).”²² This is the spiritual fullness which Yaśovijaya has told us. It is the outcome of the exercise of neutrality and groundedness in all view-points. Both the *Adhyātmāsāra* and the *Adhyātmopaniṣat-prakarāṇa*, we can note, are sprinkled with references to the *Bhagavadgītā* and the *Upaniṣads*.

Yaśovijaya and Dara Shukoh: A Cosmopolitan Ideal in 17th Century India

With this synopsis of the development of Yaśovijaya’s thought, let me return to the political context in which he lived and in particular to the religious cosmopolitanism of Dara Shukoh (1615-1659). It was in 1655 or 1656, at just the time when Yaśovijaya would have been finishing up his studies in Varanasi, that Dara Shukoh himself assembled in Varanasi with a team of the most renowned Sanskrit *paṇḍits* to help him execute his plan of translating the Hindu scriptures, or at least those of them that were “hermeneutically continuous” with the Quran. He was to supervise the translation into Persian of fifty-two *Upaniṣads*, of the *Yogavāsistha* and of the *Bhagavadgītā*, all of which, he believed could be read as speaking of the divine unity, if one mapped their terminology into that of Sufism in accordance with the notational isomorphisms he had already established, in a book entitled *The Meeting-Place of the Two Oceans (Majma-ul-Barhain)*, the title indicative of a conception of Hinduism and Islam as coming together at a point of confluence. A translation into Sanskrit, possibly made by Dara Shukoh himself, is entitled *Samudra-saṅgama*. In the ‘Preface’ to his translation of the *Upaniṣads*, Dara Shukoh tells us that “As at this period the city of Benares, which is the centre of the sciences of this community, was in certain relations with this seeker of the Truth [sc. Dara Sukoh], he assembled together the *Pandits* and *Sarṇnyāsīs* who were the most learned of their time and proficient in the *Upanekhat*, he himself being free from all materialistic motives, translated the essential

parts of monotheism, which are the *Upanekhat*, i.e. the secrets to be concealed, and the end of purport of all the saints of God, in the year 11067 A.H. [1657 C.E.]” (Hasrat 1982: 266).

That Yašovijaya would have had a keen interest in Dara Shukoh’s inclusivist project, had he known about it, is certain. And it seems hard to imagine that he could not have known about it given the high status of the project, which gave employment to a great number of the most celebrated Sanskrit intellectuals of the day, and given also its pivotal role in one of the most momentous events of the epoch, providing Aurangzeb with an excuse to brand Dara Shukoh a heretic and arrange for his execution (having already imprisoned their ailing father, Shahjahan), thereby usurping the Mughal throne. Yašovijaya was eventually to return to Gujarat, but according to a curious detail in his biography, he went first to Agra and continued his work there for a few years. Whether true or not, and one cannot be entirely sure, the detail is indicative of the circulation of both people and ideas at this time between centers of Islamic and Hindu intellectual influence.

Yašovijaya, I have suggested, sought a top-down account of the unity to which the various viewpoints are susceptible, a unity grounded in a shared appreciation of the intellectual virtues associated with the “translational process of cultures’ in-betweenness”. I have also suggested that he felt a considerable pull towards another account of unity, the bottom-up account represented by his interest in spiritual unity. This second move would have served to bring his thinking into line with the “Unity of Being” ideology currently in vogue in the centres of political power. The tension in Yašovijaya’s conception of a supra-religious spiritual community is apparent in the way he invokes that celebrated metaphor of identity-and-difference, the metaphor of the ocean and its waves. Yašovijaya says:

“The divisions born from the [various] standpoints are merged in a great universal form, just as the huge waves generated by strong winds in the ocean.”²³

That seems both to recapitulate the Vedāntic use of the image of waves not different from the body of water that is the ocean and yet retaining their separate identity²⁴ but also to hint that it is the emergent pattern produced by the interaction in which the unity is to be found. The ability to see that picture comes, however, with the cultivation of the distinctively Jaina virtues of neutrality (*madhyasthātā*) and impartiality (*samatā*), which for Yaśovijaya are the grounding cosmopolitan virtues in a multi-faith community.

Interestingly, Dara Shukoh appeals to the very same metaphor, again giving it a distinctive twist:

“The inter-relation between water and its waves is the same as that between body and soul or as that between *śarīra* and *ātmā*. The combination of waves, in their complete aspect, may be likened to *abul-arwāh* or *paramātmā*; while water only is like the August Existence, or *suddha* or *chetan*.”²⁵

Here we have on display the two models of unity with which I began, the top-down model represented by the single pattern created by the waves in interaction with each other, and the bottom-up model signified by the body of water itself, to which all the waves belong. Where one might have expected the Jaina Yaśovijaya to espouse the top-down model, and the Sufi Dara Shukoh the bottom-up model, what one finds instead is a desire by both to offer some accommodation of each model. And perhaps, indeed, a robust religious cosmopolitanism does require there to be space for both a unifying vision and a vision of unity.

References:

1. Goodman, Nelson. *Ways of Worldmaking*. The Harvester Press, 1978, p. 5.
2. Matilal, B. K., *Central Philosophy of Jainism*, L. D. Institute of Indology, Ahmedbad, 1981, p. 30
3. Desai, Mohanlal Dalichand. *Yashovijayaji: The Life of a Great Jaina Scholar*. Bombay: Meghji Hirji & Co., 1910, p.54

4. Vidyabhushan S. C., *History of Indian Logic*, 1921: Calcutta University, p. 217
5. *Aṣṭasāśrī-tātparyavivaraṇa*, Part I, Ed. Munishri Vairagya Yati Vijayaji, Pravachan Prakashan, Pune 2004, p.9
6. *Nyāyakhāṇḍakhāḍya*, Folio 43
7. Yaśovijaya Gaṇi, *Jñānasāra*, translated by A. S. Gopani, Jaina Sahitya Vikas Mandal, Bombay, 1986, p.3-4
8. *Ibid*, 16.2, p. 86
9. *Ibid*, 16.8, p.89.
10. *Ibid*, 32.5, p.188
11. *Ibid*, 1.1, p.3
12. *Adhyātmopaniṣad*, Commentary by Bhadrakara Surishwarji Maharaj, Shri Jnanoday Printing Press, Pindwada, V.S. 2042,1.17, folio 20
13. *Ibid*, 1.18, folio 20
14. *Ibid*, 1.19, folio 20
15. *Ibid*, 1.45,46, folio 45-52
16. *Ibid*, 1.51, folio 67
17. *Ibid*, 1.71, folio 67
18. *Ibid*, 1.52, folio 50
19. *Ibid*, 1.2,4, folio 6,7
20. *Adhyātmasāra*, Ed. Dr. Sagarmal Jain, Shri Rajrajendra Prakashan Trust Ahmedabad, 2009, 13, 13-20, p.661
21. *Bhagvadgītā*, 3.42
22. *Adhyātmasāra*, 18.39-40
23. *Adhyātmopaniṣat-prakaraṇa*, 2.41
24. *Brahmasūtra Śāṅkrahāṣya* 2.1.13
25. Dara Shukoh 1929: 44f.

BIBLIOGRAPHY

(Texts of Yaśovijaya Gaṇi)

Adhyātmasāra. Edited by Ramanalal C. Shah. Sayala: Sri Raja Sobhaga Satanga Mandala, 1996.

Adhyātmopaniṣat-prakaraṇa. Edited by Sukhlalji Sanghvi. Ahmedabad: Sri Bahadur Singh Jaina Series, 1938.

Dharmaparīkṣā, Mumbai: Shri Andheri Gujarati Jain Sangha, 1986.

Jaina Nyāyakhāṇḍanakhādyā. Edited by Badarinath Shukla. Chowkhamba Sanskrit Series No. 170, 1966, Varanasi.

Jaina Tarkabhāṣā. Edited by Sukhlalji Sanghvi, Mahendra Kumar & Dalsukh Malvania. Ahmedabad: Sri Bahadur Singh Jaina Series, 1938/1942/1997. *Jñānasāra*, Edited & Translated by Dayanand Bhargava. Delhi: Motilal Banarsidas, Delhi, 1973.

Other Primary Sources

Brahmasūtra-śāṅkarAhāṣya, Edited with Commentaries by N. A. K. Shastri and V. L. Shastri Pansikar. Bombay: Nirnaya Sagar Press, 1917.

Secondary Literature

Dr Shukoh, *Mājma-ul-Barhain, or The Mingling of the Two Oceans* by Prince Muhammad Dr Shukoh. Edited and Translated by M. Mahfuz-ul-Haq. New Delhi: Adam Publishers, 1655/1929 (2006 Edition).

Dr Shukoh (1957 [1657]), *Sirr-i Akbar: The Oldest Translation of the Upaniṣads from Sanskrit into Persian*, Edited by Tara Chand & S. M. Raza Jalali Nayni. Tehran: Taban.

Desai, Mohanlal Dalichand. *Yashovijayaji: The Life of a Great Jaina Scholar*. Bombay: Meghji Hirji & Co., 1910.

Dundas, Paul. *The Jains*. London: Routledge, 1992.

Dundas, Paul. "Beyond Anekāntavāda: A Jaina Approach to Religious Tolerance," Oxford Press, Delhi

Ahiṁsā, Anekānta and Jainism. Edited by Tara Sethia, 123-136. Motilal Banarsidas, 2004, Delhi.

Ernst, Carl W. "Muslim Studies of Hinduism? A Reconstruction of Arabic and Persian Translations from Indian Languages." *Iranian Studies* 36, 2 (2003) 173-195.

Ganeṛi, Jonardon. "Dr Shukoh and the Transmission of the Upaniṣads to Islam."

Migrating Texts and Traditions. Edited by William Sweet. Ottawa: University of Ottawa Press.

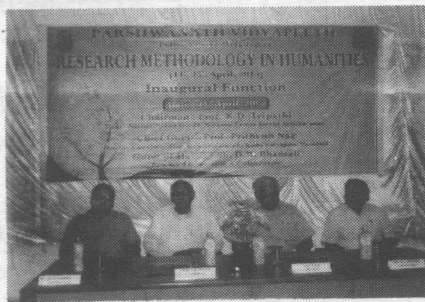
Goodman, Nelson. *Ways of Worldmaking*. Hassocks: The Harvester Press, 1978.

पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार

A 15 Day National Workshop on 'Research Methodology in Humanities' (April 11-25, 2015) organised successfully

Parshwanath Vidyapeeth (PV), an eminent institute of Indology in general and Jainology in particular, is well known to the academic world both within and outside India. It is recognized by Banaras Hindu University for Ph. D. degree and also by Scientific & Industrial Research Organization, Deptt. of Science and Technology, Government of India for conducting research.

Basically being a Research Institute, its total emphasis is on fundamental and result oriented original research in different branches of Śramaṇa Tradition as well as Indological Studies. In absence of proper research methodology and research techniques, the researchers engaged in their research fail to do systematic and result oriented research even after spending lot of time than scheduled for research. Research methodology is defined as a systematic analysis or investigation into the research subject in order to discover rational and experimental principles, facts, theories, applications and processes. A successful completion of the research highly depends on its research methodology. Keeping in view the importance of the subject Parshwanath Vidyapeeth organised a 15 Day National Workshop on Research Methodology in Humanities from 11th to 25th April, 2015.



Dignitaries on the dias in the inaugural session of Reserach Methodology Workshop

In this workshop the deliberations had confined to the subjects such as Sanskrit, Prakrit, Pali, Hindi, English, Linguistics, Philosophy and Religion, History, Ancient History, Culture & Archaeology, History of Art, Library Sciences, Museology, Education, Geography, Economics, Sociology and Law.

There were 115 participants from the different universities, i.e. Banaras Hindu University, Varanasi; Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi; Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi; I.I.T., Roorkee; Purvanchal University, Jaunpur; J.J.T. University, Zuzunu and Barkatullah University, Bhopal.

The Inaugural function was held on 11th April 2014. Prof. Prithivish Nag, Vice-chancellor, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi, was the Chief- Guest, Prof. K. D. Tripathi, Hony. Advisor, Indira Gandhi National Centre for the Arts, Varanasi presided over this session and Sh. D. R. Bhansali, a famous Industrialist and Philanthropist was the Guest of Honour for this inaugural session.

Total 37 lectures were delivered by the experts in this workshop. These lectures are as follows:

1. ***Significance and Nature of Research Methodology*** by Prof. S. P. Pandey, Head, Deptt. of Philosophy and Religion, BHU, Varanasi.

2. ***Research Methodology in Different Ways*** by Prof. Kamal Giri, Director, Jnan Pravah, Varanasi.

3. ***Research Terminology*** by Prof. Rajaneesh Shukla, Department of Philosophy, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi.

4+5. ***Research Methods; Research Methodology*** by Prof. Marutinandan Prasad Tiwari, Professor Emeritus, Faculty of Arts, BHU, Varanasi.

6+7. ***Academic Writing and Review; E-content Development*** by Dr. Sanjay Kumar Tiwari, Academic Staff College, BHU.

8. ***Bibliometric Study*** by Shri Ram Kumar Dangi, Assistant Librarian, Central Library, BHU, Varanasi.

- 9+10+11. **Qualitative Research; Citation; Referencing and Bibliography** by Prof. Rayi Shankar Singh, Deptt. of Geography, BHU, Varanasi.
12. **Historical Research** by Prof. Sitaram Dubey, Former Head, Deptt. of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, BHU, Varanasi.
13. **Prācyā Vidyā men Śodha Pravidhi** by Prof. Hari Shankar Pandey, Dean, Faculty of Śramaṇa Vidyā, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi.
14. **Aims and Objective of the Research** by Prof. Rajaram Shukla, Head, Deptt. of Nyāya Darśana, SVDV, BHU, Varanasi.
- 15+16. **Hypothesis; Data Collection** by Prof. Usha Rani Tiwari, Muscology Section, Deptt. of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, BHU, Varanasi.
- 17+18. **Statistical Analysis** by Prof. Sohan Ram Yadav, Head, Deptt. of Sociology, BHU, Varanasi.
19. **Field Research** by Prof. Arvind Kumar Joshi, Deptt. of Sociology, Faculty of Social Sciences, BHU, Varanasi.
20. **How to prepare Synopsis** by Prof. Ashok Kumar Jain, Deptt. Jaina-Bauddha Darśana, SVDV, BHU, Varanasi.
21. **Śodha Vicāra athavā Śodha Jijñāsā kā Janma evaṁ Samasyā Kathana ki Racanā** by Dr. Ashish Tripathi, Deptt. of Hindi, BHU, Varanasi.
22. **Ethical Issues in preparation of Research Reports including Publications** by Prof. B. D. Singh, Former Rector, BHU, Varanasi.
23. **Various Aspects of Research Methods and Methodology** by Prof. R. K. Jha, Deptt. of Philosophy and Religion, BHU, Varanasi.
24. **Role of Citation Analysis in Research Discussion on Web of Science and Scopus** by Dr. Vivekanand Jain, Deputy Librarian, Central Library, BHU, Varanasi.

86 : Śramaṇa, Vol 66, No. 2, April-June 2015

25. **Writing Style: Referencing, Notes and Citation** by Prof. Rana Gopal Singh, Head, Deptt. of Geography, BHU, Varanasi.

26. **Research Methodology in Humanities and Social Sciences: A Comparative Study** by Prof. D. R. Patanayak, Deptt. of English, BHU, Varanasi.

27. **Review of Literature** by Dr. Jyoti Rohilla Rana, Deptt. of History of Art, BHU, Varanasi.

28. **Content Analysis** by Prof. Siddharth Singh, Deptt. of Pali and Buddhist Studies, BHU, Varanasi.

29. **Selection of the Topic** by Prof. Sachchidanand Mishra, Deptt. of Philosophy and Religion, BHU, Varanasi.

30. **Research and Research Methods** by Prof. Bimalendra Kumar, Former Head, Deptt. of Pali and Buddhist Studies, BHU, Varanasi.

31. **Various Aspects of Research in Vedic Literature** by Dr. Upendra Tripathi, Deptt. of Veda, SVDV, BHU, Varanasi.

32+33. **Diacritical Marks and Transliteration; Editing and Proof reading** by Dr. S. P. Pandey, Joint Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi.

34+35. **Thesis Writing ; Manuscript Editing** by Prof. Prabhunath Dwivedi, Former Head, Deptt. of Sanskrit, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi.

36. **Interview and Questionnaire** by Dr. A. P. Singh, Deptt. of Library Science, BHU, Varanasi.

37. **Techniques of Research Writing** by Prof. Sanjay Kumar, Deptt. of English, BHU, Varanasi.

At the end of the workshop a Paper/Power-point presentation by the participants was done. On the basis of the final result four participants were awarded Certificate of Merit with prizes.

The Valedictory function was held on the 25th April 2015. Prof. Maheshwari Prasad, National Professor and Former Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi, presided over the session and Prof. S. N. Upadhyay, Former Director, I.I.T., BHU, Varanasi, was the Chief Guest. The Workshop was conducted under the Directorship of Dr. S. P. Pandey, Joint Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi. Dr. Shrinetra Pandey was the Coordinator of the workshop.

A 15 Day National Workshop on Prakrit Language & Literature (15-29 May, 2015) organised successfully

There is enormous literature in Prakrit language. Majority of the Prakrit works still remains inaccessible to the scholars of Jainology as well as to those working in other disciplines because of non-availability of Prakrit texts with their translations in other languages. For comparative and comprehensive study of Indian tradition, history, culture, literature, language, poetics etc. knowledge of Prakrit is essential.

Keeping in view the importance of the subject Parshwanath Vidyapeeth organised a 15 Day National Workshop on Prakrit Language and Literature from 15th - 29th May 2015. A great Scholar of Sanskrit, Prakrit and Jainism, **Param Pujya Muni Shri Prashamarati Vijayji** during his stay at Vidyapeeth had throughout encouraged and inspired Vidyapeeth to organise such workshops. Pujya Muni Shri not only encouraged but actively participated in the workshops. He wanted Prakrit Workshop to be the permanent feature of Parshwanath Vidyapeeth. This is the 5th workshop on Prakrit in this series. Parshwanath Vidyapeeth is committed to impart knowledge of Prakrit to the students and scholars interested in Indological studies.

Teaching of Prakrit generally aims to enable the participants to successfully attempt and comprehend each Prakrit words, derived from Sanskrit. In fact the pattern of this workshop will be teaching Prakrit grammar through operational procedure employed in Sanskrit grammar. *Sūtras* of Prakrit grammar used in the words will be

explained. The method adopted here for learning Prakrit language is drilling system. The formation of each word is analyzed and rules of grammar applied in a particular word are explained. After attending this course one will be able to cultivate the knowledge of Prakrit. The scholars working in the field of Indology will find a new area because of their access to original texts and their effort in comparative studies will get a boost. In turn, Prakrit studies will find a new bunch of scholars who can handle the Prakrit texts. Those adept in Sanskrit can grasp Prakrit very easily. They may be engaged in editing and translation of the Prakrit texts. Ultimately the base of Prakrit scholars is bound to expand, which is the need of the hour. The exploration of original sources is likely to enhance the standard of the researches in Indology as a whole.

The Inaugural function of the workshop was held on 15th May, 2015. Prof. G. C. Tripathi, Vice-chancellor, Banaras Hindu University, was the Chief-guest and Prof. Yadunath Prasad Dubey, Vice-chancellor, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi presided over the session and Prof. M. N. P. Tiwari, Professor Emeritus, Faculty of Arts, BHU, Varanasi was the guest of honour.



Vice Chancellor, B.H.U. addressing the inaugural session of the Prakrit Workshop

There were 32 participants in the workshop from the different universities, i.e. Banaras Hindu University, Mahatma Gandhi Kashi

Vidyapeeth, V. B. S. Purvanchal University, Jaunpur, and Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi.

In order to provide a sound background of Prakrit Language and Literature, besides regular three lectures scheduled per day (total 40 lectures) on grammar, one special lecture was arranged daily by the eminent scholars of the respective subjects. Following special lectures were delivered during the workshop:

1. '*Āgamika Vyākhyā Sāhitya evaṁ Prakrit Vyākaraṇa Sāhitya*' by Dr. S. P. Pandey, Joint Director, PV, Varanasi.

2+3. '*Abhilekhiya Prakrit*'; '*Bhāratīya Vidyā evaṁ Saṁskṛti ke Adhyayana va Śodha men Prakrit Bhāṣā kā Mahattva*' by Prof. Maheshwari Prasad, National Professor, New Delhi.

4. '*Pīṭaka Sāhitya*' by Prof. Bimalendra Kumar, Ex-Head, Deptt. of Pali and Buddhist Studies, BHU, Varanasi.

5. '*Prakrit kathā Sāhitya*' by Prof. Ashok Kumar Jain, Ex-Head, Deptt. of Jaina and Bauddha Darśana, BHU, Varanasi.

6. '*Śaurasenī Sāhitya*' by Prof. Kamalesh Kumar Jain, Head, Deptt. of Jaina and Bauddha Darśana, BHU, Varanasi.

7. '*Prakrit ke Vividha Rūpa evaṁ Mahattva*' by Prof. Deenanath Sharma, Gujarat University, Ahmedabad.

8. '*Vividha Prakrit Vyākaraṇa*' by Prof. Janaki Prasad Dwivedi, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi.

9. '*Kāvya prakāśa men Kāvyaśāstriya Tattva*' by Dr. Umakant Chaturvedi, SVDV, BHU, Varanasi.

10. '*Avyaya-vicāra*' by Dr. Rahul Kumar Singh, PV, Varanasi.

Apart from the special lectures maximum classes were engaged by Prof. Deenanath Sharma, Gujarat University, Ahmedabad and Dr. Rahul Kumar Singh, PV, Varanasi.

In this workshop an examination was held followed by a viva-voce. On the basis of the final result three participants were awarded certificate of merit with prizes.

Valedictory function of the workshop was held on 29th May, 2015. Prof. Prabhunath Dwivedi Former Head Deptt. of Sanskrit, MGKV Varanasi, Presided over the session. Prof. Yadunath Prasad Dubey, Vice-chancellor, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi, was the Chief Guest and Prof. Decnanath Sharma, Gujarat University, Ahmedabad, was the Guest of Honour for this session. The Workshop was completed successfully under the Directorship of Dr. S. P. Pandey, Joint Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi and Dr. Rahul Kumar Singh, co-ordinator of the workshop.

ओटावा यूनिवर्सिटी, कनाडा के छात्रों/अध्यापकों का जैन विद्या प्रशिक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत पार्श्वनाथ विद्यापीठ में आगमन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, करौंदी में दिनांक २ जून २०१५ को ओटावा यूनिवर्सिटी, कनाडा से जैन विद्या प्रशिक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत पथारे १४ छात्रों के लिए दो विशेष व्याख्यान पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं इग्नाइटिंग माइन्ड फाउण्डेशन, मुम्बई के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित किये गये। इस विशेष प्रशिक्षुदल का नेतृत्व कर रही थीं- प्रोफेसर एने वल्लेली, डिपार्टमेंट आफ क्लासिकल एण्ड रिलीजियस स्टडीज, यूनिवर्सिटी आफ ओटावा तथा डॉ. कामिनी गोगरी, यूनिवर्सिटी आफ मुम्बई। प्रथम व्याख्यान प्रो० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, इमरेटस प्रोफेसर, कला संकाय एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास-कला विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का जैन कला एवं प्रतिमा विज्ञान पर हुआ। कला को परिभाषित करते हुए प्रो० तिवारी ने कहा कि कला साहित्य की वैयक्तिक रचना है। कला पूरी संस्कृति की एक विस्तृत मौन अभिव्यक्ति है। किसी भी काल की कला वर्तमान में भी अपरिवर्तित रूप में ही प्राप्त होती है। इस दृष्टि से जैन कला के आधार पर पूरी जैन संस्कृति, दर्शन एवं धर्म को भलीभांति समझा जा सकता है।

प्रो० तिवारी ने बताया कि जैन तीर्थंकर की मूर्तियाँ ध्यानमुद्रा एवं कायोत्सर्ग मुद्रा में ही पायी जाती हैं। ध्यानमुद्रा चिन्तन के शीर्ष बिन्दु को व्यक्त करती है और कायोत्सर्ग मुद्रा जैन कला का विलक्षण वैशिष्ट्य है। उपसर्ग में भी जैन तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा का परित्याग नहीं करते। उन्होंने बताया कि जैन तीर्थंकरों के साथ वृक्षों का उल्लेख उनके पर्यावरण के प्रति प्रेम का द्योतक है। इस क्रम में उन्होंने खजुराहो तथा

दिलवाड़ा के मन्दिर, चन्द्रप्रभ की कुषाणकालीन मूर्ति, देवगढ़ के ऋषभनाथ इत्यादि मूर्तियों के काल, स्थान एवं उनकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुये बताया कि मूर्तियाँ हमें यह सन्देश देती हैं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह के आधार पर कोई भी व्यक्ति या साधक यशवान् एवं पूज्य हो सकता है।



जैनविद्या अध्ययनरत ओटावा यूनिवर्सिटी का छात्र/अध्यापक दल

दूसरा व्याख्यान प्रो० हरिहर सिंह, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का जैन स्थापत्य पर था। प्रो० सिंह ने प्राचीन भारत में बनने वाली 'संरचनात्मक एवं शैलीकृत' दो प्रकार की इमारतों की विशेषताएँ एवं अन्तर का विवेचन करते हुए मानव निर्मित शैलीकृत जैन गुफाओं की विशद् विवेचना की। उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा पटना में निर्मित पत्थरों के महलों की विशेषताओं की विवेचना करते हुए इसी काल में निर्मित नागार्जुन एवं बराबर की सर्वप्राचीन सात गुफाओं की विशेषताओं, निर्माताओं एवं निर्माण के उद्देश्यों पर विधिवत प्रकाश डाला। इसी क्रम में प्रो. सिंह ने राजगृह में प्राप्त दो जैन गुफाओं के साथ-साथ उदयगिरि तथा खण्डगिरि में खारवेल के परिजनों द्वारा निर्मित जैन गुफाओं की विशेषताओं का भी विशद् विवेचन किया। उन्होंने इन गुफाओं में प्राप्त अभिलेखों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला।

प्रो० सिंह ने जूनागढ़ की शृंखलाबद्ध गुफाओं का विवेचन करते हुए चन्द्रगुफा का विशेष रूप से चित्रण किया जहाँ आचार्य हरिषेण के शिष्य पुष्पदन्त एवं भूतबली ने दिगम्बर जैन ग्रन्थ षट्खण्डागम की रचना की। इस क्रम में उन्होंने कर्नाटक के बादामी और अहिरोली की गुफाओं एवं एलोरा की गुफाओं का भी विशद् विवेचन किया।

प्रो० सिंह ने जैन मन्दिरों की सामान्य विशेषताओं को व्याख्यायित करते हुए संरचनात्मक जैन मन्दिरों की विशिष्टताओं पर भी प्रकाश डाला। इस क्रम में उन्होंने

विश्वविख्यात आबू पर्वत के जैन मन्दिरों के स्थापत्य एवं कला का विशद विवेचन किया। गुजरात के प्रथम सोलंकी शासक भीमदेव प्रथम के मंत्री विमलशाह द्वारा निर्मित मन्दिर तथा सोलंकी नरेश भीमदेव द्वितीय के मंत्री तेजपाल द्वारा निर्मित मन्दिरों का उल्लेख करते हुए आपने इन मन्दिरों को जैन मन्दिरों में प्राचीनतम एवं जैन धर्म की पूजन पद्धति के अनुकूल बताया।

व्याख्यान का प्रारम्भ जैन मंगलाचरण द्वारा हुआ। पश्चात् अतिथियों का स्वागत पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संयुक्त निदेशक डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने किया। डॉ० पाण्डेय ने संस्था का संक्षिप्त परिचय देते हुए इस प्रकार के व्याख्यानों की प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला। अतिथियों का माल्यार्पण कर स्वागत डॉ० राहुल कुमार सिंह, रिसर्च एसोसिएट तथा डॉ० ओमप्रकाश सिंह, पुस्तकालयाध्यक्ष ने किया। कार्यक्रम का संचालन डॉ० राहुल कुमार सिंह ने किया।

इस अवसर पर ओटावा विश्वविद्यालय की प्रो० एन वलेली, मिरेला स्टोसिक, लीह ड्रपो, रैंडी फ्रोत्स, जोसन पिनेयू, स्टेफनी माल्टाइस, काइले वाल्डेन, चण्टल वाल, जेसिका फोर्ड, जे०सी० आयर्स, लिण्डशे इसेलेर, निकोलस अब्रान्स, जूलिया कन्सरेला तथा आशीष पिम्प्ले एवं डॉ० कामिनी गोगरी, मुम्बई यूनिवर्सिटी आदि उपस्थित थे। व्याख्यान के दौरान संस्थान के डॉ० मलय कुमार झा, डॉ० रुचि राय, श्री राजेश कुमार चौबे तथा अन्य विद्वान उपस्थित थे। कार्यक्रम के अन्त में आभार प्रदर्शन डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने किया।

प्रो० मारुतिनन्दन तिवारी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रोफेसर-एमरिटस के पद पर नियुक्त

भारतीय कला-इतिहास, विशेषतः जैन कला एवं प्रतिमाविज्ञान के क्षेत्र में विश्वस्तरीय विद्वान प्रो० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी की काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला इतिहास विभाग में प्रोफेसर एमरिटस के रूप में नियुक्ति हुई है। प्रो० तिवारी पार्श्वनाथ विद्यापीठ के शोध छात्र रहे हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार आपकी इस उपलब्धि पर गौरवान्वित है।

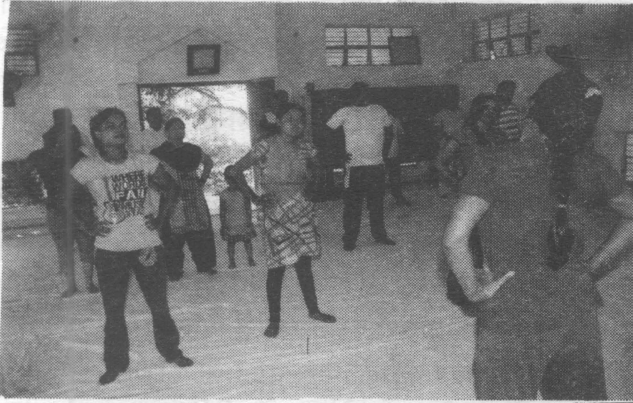
डॉ० दीनानाथ शर्मा प्राकृत विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व प्रवक्ता एवं वर्तमान में प्राकृत विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय में रीडर के पद पर कार्यरत प्राकृत भाषा के बहुश्रुत विद्वान् डॉ० दीनानाथ शर्मा को

पर्सनल प्रमोशन के तहत प्रोफेसर नियुक्त किया गया है। उसकी यह नियुक्ति ०१.०९.२००९ से मान्य होगी। प्रो० शर्मा को पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार की तरफ से हार्दिक बधाई।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा योग शिविर का आयोजन

दिनांक २१ जून २०१५, अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस के अवसर पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ स्थित श्री यशोविजय ध्यान साधना केन्द्र में एक योग शिविर का आयोजन किया गया जिसमें विद्यापीठ परिसर स्थित छात्रावास के छात्र-छात्राओं तथा विद्यापीठ के कर्मचारियों एवं उनके परिवार द्वारा योगाभ्यास किया गया। शिविर के प्रतिभागियों को योग्य शिक्षक द्वारा आसन और प्राणायाम तथा ध्यान का उचित प्रशिक्षण दिया गया।



योग-शिविर में योगाभ्यास करते हुये प्रतिभागी

विद्यापीठ के रिसर्च एसोसिएट डॉ. राहुल सिंह की अनुवाद-परियोजना भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् द्वारा स्वीकृत

डॉ. राहुल सिंह, रिसर्च एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ को भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् द्वारा हरिभद्र सूरि रचित 'अनेकान्तवाद-प्रवेश' के अनुवाद की एक परियोजना स्वीकृत हुई है। इस परियोजना की अवधि दो वर्ष है जिसमें डॉ. सिंह उक्त ग्रन्थ का हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद तथा रोमन ट्रांसलिटिरेशन करेंगे।

जैन जगत्

भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली द्वारा प्राकृत भाषा और साहित्य की २७वीं ग्रीष्मकालीन अध्ययनशाला का सफल आयोजन

भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली द्वारा दिनांक १७ मई से ०७ जून २०१५ तक २७वीं इक्कीस दिवसीय प्राकृत भाषा एवं साहित्य की ग्रीष्मकालीन अध्ययनशाला का सफलता के साथ आयोजन किया गया। इस कार्यशाला में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हरियाणा, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल एवं दिल्ली आदि प्रदेशों के उच्च शिक्षण संस्थानों से समागत आरम्भिक एवं उच्चतर- इन दोनों पाठ्यक्रमों में बयालिस प्रतिभागियों ने भाग लिया।

इक्कीस दिवसीय इस प्राकृत कार्यशाला में अनेक ज्ञानवर्धक कार्यक्रमों का आयोजन हुआ। इनमें सर्वप्रथम २१ मई २०१५ को इण्डिया इण्टरनेशनल सेंटर, नई दिल्ली में संस्थान की ओर से नवसृजित व्याख्यानमाला के अन्तर्गत संस्थान के उपाध्यक्ष एवं एल०डी इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद के निदेशक डॉ० जितेन्द्र बी० शाह का कल्पसूत्र के लघुचित्रों पर आधारित विशिष्ट व्याख्यान का आयोजन प्रसिद्ध कलाविद् विदुषी श्रीमती कपिला वात्स्यायन जी की अध्यक्षता में किया गया। साथ ही प्राकृत भाषा को शास्त्रीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने हेतु श्रीमती कपिला वात्स्यायन की प्रेरणा एवं सान्निध्य में दिनांक ०२ जून, २०१५ को इण्डिया इण्टरनेशनल सेंटर, नई दिल्ली में संस्थान की ओर से प्रतिनिधि सम्वाद का अयोजन किया गया। संस्थान के निदेशक प्रो० गयाचरण त्रिपाठी के संयोजकत्व में सम्पन्न इस कार्यक्रम में प्रमुख रूप से माननीया कुलपति समणी चारित्रप्रज्ञा जी, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ, प्रो० जितेन्द्र बी. शाह, निदेशक- एल०डी० इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद तथा प्रो० जगताराम भट्टाचार्य, विश्वभारती शान्तिनिकेतन, पश्चिम बंगाल, समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्वभारती आदि सम्मिलित हुए।

प्राकृत भाषा एवं साहित्य के इस पाठ्यक्रम में देश के ख्यातिलब्ध जिन विद्वानों ने अध्यापन कार्य किया उनमें वरिष्ठ विद्वान् प्रो० किरण कुमार थपल्याल (लखनऊ), प्रो० धर्मचन्द जैन (जोधपुर), प्रो० जगताराम भट्टाचार्य (शान्तिनिकेतन, पश्चिम बंगाल), प्रो० कमलेश कुमार जैन (जयपुर), डॉ० जितेन्द्र कुमार जैन (उदयपुर),

डॉ० पोरिक शाह (अहमदाबाद), डॉ० अनेकान्त कुमार जैन (दिल्ली), प्रो० गयाचरण त्रिपाठी (निदेशक), प्रो० फूलचन्द जैन प्रेमी (निदेशक, शैक्षिक) एवं प्रो० अशोक कुमार सिंह प्रमुख हैं।

इस पाठ्यक्रम की सम्पूर्ति पर मौखिक एवं लिखित परीक्षा ली गई। इसमें प्रवीणता सूची के आधार पर प्रारम्भिक पाठ्यक्रम एवं उच्चतर पाठ्यक्रम में प्रथम द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार प्रदान दिया गया।

इस अध्ययनशाला के उद्घाटन सत्र का आयोजन १७ मई २०१५ को किया गया। सत्र के अध्यक्ष थे- प्रो० रमेश कुमार पाण्डेय, कुलपति, श्रीलाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली। मुख्य अतिथि थे- प्रो० रमेशचन्द्र भारद्वाज, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय एवं सारस्वत अतिथि थे प्रो० जयपाल विद्यालंकार। समापन समारोह का आयोजन ०७ जून २०१५ को श्री राजकुमार जैन ओसवाल की अध्यक्षता में किया गया जिसकी मुख्य अतिथि थीं प्रो० दीप्ति एस० त्रिपाठी, प्रोफेसर दिल्ली विश्वविद्यालय।

आचार्य सम्राट शिवमुनिजी म.सा. का मंगल चातुर्मास प्रवेश सूरत में

श्रमण संघीय युगप्रधान आचार्य प.पू. शिवमुनिजी म.सा. तथा युवाचार्य प्रवर श्री महेन्द्र ऋषिजी का मंगल चातुर्मास प्रवेश इस बार सूरत (गुजरात) में दिनांक २५ जुलाई २०१५ को हो रहा है। आचार्यश्री अपने शिष्यवृन्द सहित प्रातः ०७.३० बजे महावीर भवन, भटार रोड से विहार कर शिवाचार्य समवसरण, सूरत में पधारेगे। चातुर्मास के दौरान योग और ध्यान के अनेक शिविर आयोजित किये जायेंगे।

लब्धिविक्रम गुरु कृपापात्र आचार्य विजय राजयशसूरीश्वरजी म.सा. का मंगल चातुर्मास प्रवेश शान्ताकुज, मुम्बई में

श्री शान्ताकुज जैन तपागच्छ संघ, मुम्बई में प्रखर प्रवचनकार पू. गुरुदेव श्रीमद् विजय राजयशसूरीश्वरजी म.सा. एवं पूज्य आचार्यदेव श्री रत्नयश सूरीश्वरजी म.सा., गणिवर्य विश्रुतयश विजयजी म.सा. आदि का विशाल साधु-साध्वी परिवार सहित मंगल चातुर्मास प्रवेश दिनांक २९ जुलाई २०१५ को प्रातः ०८ १७ बजे होगा। चातुर्मास के दौरान विविध कार्यक्रम आयोजित किये जायेंगे।

साहित्य-सत्कार

ग्रन्थ समीक्षा :

पुस्तक : जैन दर्शन पारिभाषिक शब्दकोश, मुनि क्षमासागर, मैत्री समूह, प्रथम संस्करण, २००९, द्वितीय संस्करण, २०१४, पृ. ४५३, हार्ड बाउण्ड, मूल्य २२० रुपये, आईएसबीएन-८१-७६२८-०१७-८१।

जैन दर्शन के शब्दों की अपनी एक विशिष्ट व्यवस्था है, उनका अर्थ विशेष अध्ययन के उपरान्त ही स्पष्ट हो पाता है। सामान्य पाठक कई बार जैन दर्शन का अध्ययन करते समय या धर्मोपदेश आदि सुनते समय शब्दों का अर्थ स्पष्ट न होने के कारण कठिनाई का अनुभव करते हैं। उन्हें तत्क्षण अर्थबोध हो सके तथा अध्ययन-चिन्तन-मनन में आसानी हो, इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु मुनि क्षमासागर जी द्वारा लगभग १२ वर्षों के अथक प्रयास द्वारा इस शब्दकोश की रचना हुई है।

यह शब्दकोश विभिन्न शब्दकोशों की परम्परा में एक छोटा सा कोश है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान, आचार-शास्त्र, कर्म सिद्धान्त, भूगोल और पौराणिक विषयों से सम्बन्धित पाँच हजार शब्दों का संकलन कर उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह संकलन अनेक महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक जैन ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में शब्दों की सन्दर्भ-सूची भी दी गयी है। विशालकाय कोशों की बहुमूल्य सामग्री का संचयन करने वाले इस शब्दकोश की महत्ता और उपयोगिता जैन धर्म और दर्शन में रुचि रखने वाले सामान्य पाठकों के लिए अधिक है।

डॉ०- राहुल कुमार सिंह

श्रीमद्धनेश्वरसूरिविरचितं
सुरसुंदरीचरिअं
(दशम् परिच्छेद)

पू. गणिवर्य श्री विश्रुतयशविजयजीकृत
संस्कृत छाया, गुजराती और हिन्दी अनुवाद सहित
परामर्शदात्री
प.पू. साध्वीवर्या रत्नचूलाजी म.सा.

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी २०१५

Surasundarīcariāṃ : An Introduction

Jaina narrative literature is enormously rich. Particularly the narrative literature of Śvetāmbaras is a veritable storehouse of folk-tales, fairy-tales, beast-fables, parables, illustrative examples, apologues, allegories, legends, novels, funny stories and anecdotes. Apart from a large number of tales and parables and legends found in Jaina canons itself, the Jaina writers/authors have created new stories and legends of their own also. The versatile Jaina monk authors were very practical minded. They exploited the Indian people's inborn love for stories for the propagation of their dharma.

Surasundarīcariāṃ (last quarter of the 11th century AD) is a voluminous romantic epic composed in Prakrit by Śrīmad Sādhu Dhaneśvara Sūri, pupil of Śrī Jineśvara Sūri author of 'Kahāyaṇakośa.' Richer in content, it is an important work of Jaina narrative literature. The whole subject matter of the epic is divided into sixteen chapters (pariccheda). Each chapter contains a story interwoven with some another story which keep retained the interest of the readers.

This is the first time when it's Hindi translation is being published with Gujarati and Sanskrit cchāyā prepared by Parama Pujya Ganivarya Shri Vishrutayash Vijayaji Maharaj, the worthy disciple of Parama Pujya Acharya Pravara Shri Rajayash Surishvarji Maharaj.

We are very grateful to Acharyashri for entrusting this work to us for publication. Śramaṇa is presenting this beautiful story for its readers in part. We shall be publishing it in every alternate issue. We have already published chapter 1-8 of Surasundarīcariāṃ in our successive issues. Here follows the 10th chapter.

-The Editor

Surasundarīcariām

10th Pariccheda

The story of the 10th *pariccheda* of *Surasundarīcariām* revolves around Amaraketu, King of Hastinapur, queen Kamalāvati, Śreṣṭhi Dhanadeva and his wife Candrakāntā, Śrīdatta, Vidhuprabha, Sumati, Samarapriya, Citravega along with some other characters. After Śreṣṭhi Dhanadeva's wife gives birth to a son, Dhanadeva organizes a great function at this auspicious occasion. On 12th day of his son's birth, Dhanadeva goes to king and invites him with queen on dinner. The King comes to Dhanadeva's house with all his grace. The wife of Dhanadeva, Candrakāntā invites queen Kamalāvati to name her newly born child. Kamalāvati names the child as Śrīdeva. Since the queen has no child, seeing the Candrakāntā's son becomes grieved and expresses her desire of having a son to King Amaraketu. The King assures her that he will worship to God and very soon fulfill her desire. The king goes for rigorous worship and one day Vidyuprabha Deva of Īśānakalpa appeared before him. Being pleased, Vidhuprabha gives his two ear-rings to King Amaraketu. Amaraketu gives those ear-rings to queen and after some days she dreams that a golden pitcher entered in her body and suddenly became disappeared. The king calls dream interpreters who confirm that she will give birth to a son soon.

Dhanadeva reminds King Amaraketu the incident of snake bite of Citravega at Kuśāgra Nagar where the Bhīlapati (leader of a tribal group) made Citravega cured with a *Maṇi* (a precious stone). At that time Kevalī Bhagavanta (the omniscient) had declared that in next birth Citravega will be born as a son of Amaraketu and after being kidnapped along with his mother by a Varīdeva, he will be grown-up at the house of a Vidyādhara. So the baby in womb of queen Kamalāvati is definitely the Vidhuprabha. Dhanadeva added that still he has that special *Maṇi* given by Pallipati in his ring and if that *Maṇi* is given to queen, she will have no problem in giving birth of the baby. Dhanadeva gives that *Maṇi* ring to king and king

gives that to queen. After some time the queen got pregnant. In seventh month, she felt the craving of pregnancy (dohada) that she should give donations to poor and visit the city with all her public of the kingdom sitting on an elephant. The king gets that craving realized and does all that accordingly. (1-106)

All of sudden the elephant gets mad and starts running uncontrolled in the direction of north-east. The queen who was sitting on the elephant becomes frightened. In order to get rid from the elephant, the king suggests Kamalāvati to catch the branch of the banyan tree coming in the way. But she fails do that and the elephant flies in the air rapidly along with her. The king sends his soldiers headed by Samarapriya in search of the queen and returns to home. After sometime, Samarapriya informs the king that though still they have not been able to locate queen but they have got a clue. A passenger told Samarapriya that he had witnessed a lady and an elephant falling in the Padmodara pond. Now the king becomes worried and calls Sumati, the astrologer to know about the queen. Sumati assures the king that she is alive. He tells to king that when you will get a stained string of flower beads (garland) laying in any odd place, exactly one month after that day you will meet the queen. Sumati proclaims that the queen will gave birth to a son but she will be separated with her son just after the birth. Days elapsed but there is no information about the queen. One day when king Amaraketu was in deep sleep, he saw a dream. He saw that a stained string of flower beads was coming towards him from north direction and when he caught that string that became fragrant. He proceeds in the same direction. In the way he looses his fly-whisk into a well covered by grass. When the soldiers went down in the well in search of the fly-whisk, there they get Kamalāvati standing in the well. She was brought out of the well. She tells the complete story as to how she was kidnapped by the elephant, how she fell down in the pond, how she met with a group of travelers (sārtha), how she met with Śrīdatta, and how on the invitation of Śrīdatta she reached Kuśāgra Nagar. (107-207).

Kamalāvati kept on saying the king that after having some rest, she accompanied the group of travelers and reached in the jungle where the Bhīls attacked on the group of travelers. The group of travellers was scattered and she was left alone in the jungle. The jungle was full of dangerous creatures, animals and hunters. She got thirsty and in search of water she reached to a pond. There she stayed at night. At midnight she felt pain (labor) in her stomach and after some time she gave birth to a child. She prayed all the gods, inhabitants of jungle and animals to protect her son. Being tired due to wandering all the way in the jungle she got slept. When she was in sleep, she heard someone calling her. When she awoke and proceeded in the direction the voice was coming from, suddenly she felt that her son was not there in her lap and she got fainted. (208-250)

श्रीमद्धनेश्वरसूरिविरचितं

सुरसुंदरीचरिअं

दसवाँ परिच्छेदः

गाहा—

तक्कम्म-कुसल-विलया-समूह-विहियम्मि सूइ-कम्मम्मि ।
हल्लुत्तावल-गिह-दासि-विहिय-तक्काल-करणज्जे ॥१॥
सहरिस-परियण-वज्जरिय-वज्ज-सुय-जम्म-हरिसिय-मणेण ।
धणधम्म-सेट्ठिणा अह वद्धावणयं समाढत्तं ॥२॥

संस्कृत छाया—

तत्कर्मकुशलवनितासमूहविहिते सूतिकर्मणि ।
हल्लुत्तावल (शीघ्रं)गृहदासीविहिततत्कालकरणीये ॥१॥
सहर्षपरिजनकथितवर्यसुतजन्महर्षितमनसा ।
धनधर्मश्रेष्ठिनाऽथ वर्द्धापिनकं समारब्धम् ॥२॥ युग्मम् ॥

गुजराती अनुवाद—

१,२. ते कार्यमां कुशल एवी महिलाओना समूह वडे सूति कर्म (जन्म कृत्य) कटाये छते, तथा शीघ्रता पूर्वक घरनी दासीओ वडे ते समये कटवा योग्य कार्य कटाये छते... हर्षपूर्वक स्वजनों द्वारा कहेवायेल श्रेष्ठ पुत्रना जन्मथी खुश भयेल मनवाला धनधर्मश्रेष्ठिण वधामणानो प्रारम्भ कर्यो, (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद—

जन्मकृत्य कराने में कुशल महिलाओं द्वारा सूतिकर्म अर्थात् जन्म कृत्य कराए जाने के बाद, घर की दासियों द्वारा उस समय करने योग्य कार्य-सम्पन्न होने के बाद स्वजनों द्वारा पुत्र जन्म का समाचार पाकर प्रसन्न धनधर्म श्रेष्ठि ने बधाई का कार्य प्रारम्भ किया।

गाहा—

अविय ।

गहियक्खवत्त-पविसंत-नयर-नारी-जणोह-रमणीयं ।

रमणी-यण-मुह-मंडण-वावड-निय-बंधु-वर-दारं ॥३॥

वर-दारुग-निवेशिय-वंदण-माला-सणाह-सिय-कलसं ।
 सिय-कलस-हत्थ-पविसंत-वट्ट-किज्जंत-कल-सहं ॥४॥
 कल-सह-पउर-पाउल-मंगल-संगीय-पवर-पेक्खणयं ।
 पेक्खणय-पिक्खणक्खित्त-लोय-दिज्जंतं-तंबोलं ॥५॥
 अविय
 घोसिय-जीवा-ऽघाओ मोयाविय-विउल-बंदि-निउरंबो ।
 दिज्जंत-विविह-दाणो दीणाणाहाइ-सुह-जणओ ॥६॥
 पइ-जिण-मंदिर-किज्जंत-वज्ज-वर-मज्जणाइ-वावारो ।
 वर-वत्थमाइएहिं संमाणिय-साहु-संदोहो ॥७॥
 भोजिय-सयण-समूहो संमाणिय-वणिय-नायर-महल्लो ।
 जण-जणिय-चमक्कारो सुय-जम्म-महूसवो विहिओ ॥८॥

संस्कृत छाया—

अपि च ।

गृहीताक्षतपात्रप्रविशन्नगरनारीजनौघरमणीयम् ।
 रमणीजनमुखमण्डनव्यापृतनिजबन्धुवरद्वारम् ॥३॥
 वरद्वाराग्रनिवेशितवन्दनमालासनाथसितकलशम् ।
 सितकलशहस्तप्रविशद्वर्तक्रियमाणकलशब्दम् ॥४॥
 कलशब्दप्रचुरप्रवरकुलमङ्गलसङ्गीतप्रेक्षणकम् ।
 प्रेक्षणकप्रेक्षणक्षिप्तलोकदीयमानताम्बूलम् ॥५॥ तिसुभिः कुलकम् ॥

अपि च ।

घोषितजीवाघातः मोक्षितविपुलबन्दिनिकुरम्बः ।
 दीयमानविविधदानो दीनाऽनाथादिसुखजनकः ॥६॥
 प्रतिजिनमन्दिरक्रियमाणवर्षवरमज्जनादिव्यापारः ।
 वरवस्त्रमादिकैः सन्मानितसाधुसन्दोहः ॥७॥
 भोजितस्वजनसमूहः सन्मानितवणिग्नागरमहल्लो(समूहः) ।
 जनजनितचमत्कारः सुतजन्ममहोत्सवो विहितः ॥८॥

गुजराती अनुवाद—

३-८. (पुत्रजन्म महोत्सव)– ग्रहण कटेला अक्षत पात्र सहित प्रवेश

करता नगरना नारीजनोना समूह थी रमणीयो... रमणीयो (नारी) ना मुखमंडनमा लागेला पोताना बंधुवोना श्रेष्ठ द्वार ... श्रेष्ठ द्वारमां स्थापन करेल वंदनमालाथी शोभता श्वेतकलश... श्वेतकलश उपर स्थापन करेल हाथ वडे प्रवेश करता मार्गमां कराता मनोहर शब्द.. मनोहर शब्दथी प्रचुर मंगल संगीतवडे श्रेष्ठ नाटक...नाटकने जोवामां व्याक्षिप्त चित्तवाला लोकोने तंचोल अपायुं तथा अमाचीनी घोषणा कराई, घणा बंदीओना समूहने छोडावायो, दीन-अनाथादिने सुख उत्पादक विविध प्रकारनुं दान अपायुं तथा प्रत्येक जिनमंदिरमां श्रेष्ठ अभिषेकादि अनुष्ठान कराया, श्रेष्ठ वस्त्रादि वडे साधु समुदायनी भक्ति कराइ... स्वजन समूहने भोजन कराव्वा, वणिक नगर जनोनुं सन्मान करायुं, आ प्रमाणे लोकोने चमत्कारदायक पुत्रजन्मनी महोत्सव करायो... (षड्भिः कुलकम्)

हिन्दी अनुवाद—

अक्षत पात्र लेकर नगर में प्रवेश करने वाली नारियों से रमणीय, नारियों के मुखमंडन हेतु उनके बांधवों द्वारा बनाए गए श्रेष्ठ द्वार और उन श्रेष्ठ द्वारों में स्थापित वन्दनमाला से सुशोभित श्वेत कलश को हाथों से ग्रहण करने पर उत्पन्न मनोहर शब्द से ओत-प्रोत संगीत से सजे नाटकों को विक्षिप्त चित्त से देखने वालों को पान दिया गया। उसके पश्चात् जीवघात न करने की घोषणा कर बहुत से बन्दीजनों को छोड़ दिया गया। गरीब एवं अनाथ लोगों को सुख देने वाले विविध प्रकार के दान दिए गए तथा प्रत्येक जिनमन्दिर में अभिषेक अनुष्ठान आदि कराए गए। श्रेष्ठ वस्त्रों से साधु समुदाय की भक्ति करने के पश्चात् स्वजनों को भोजन कराया गया तथा व्यापारी व वणिक वर्ग का सम्मान किया गया। इस प्रकार लोगों द्वारा चमत्कारी पुत्रजन्म महोत्सव मनाया गया।

गाहा—

एवं कथ-कायव्वो संपत्ते वारसम्मि दियहम्मि ।

गहिऊण दरिसणीयं संपत्तो राइणो मूलं ॥१॥

संस्कृत छाया—

एवं कृतकर्तव्यः सम्प्राप्ते द्वादशे दिवसे ।

गृहीत्वा दर्शनीयं सम्प्राप्तो राज्ञो मूलम् ॥१॥

गुजराती अनुवाद—

१. आ प्रमाणे करेला कर्तव्यवालो ते श्रेष्ठि चार में दिवसे शेटणुं लईने राजाानी पासै पहींच्यो..

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार कर्तव्य का पालन करने वाला वह श्रेष्ठि राजा से भेंट करने के लिए बौरहवें दिन राजा के पास पहुँचा।

गाथा—

कय-विणओ धणदेवो भणइ महा-राय! सेट्ठि-वयणेण।

देवी-सहिएण तुमे भोत्तव्वं अम्ह गेहम्मि ॥१०॥

संस्कृत छाया—

कृतविनयो धनदेवो भणति महाराज ! श्रेष्ठिवचनेन ।

देवीसहितेन त्वया भोक्तव्यमस्माकं गेहे ॥१०॥

गुजराती अनुवाद—

१०. करेला विनयवालो धनदेव कहे छे, श्रेष्ठिना वचन वड़े हे महाराज! महाराणी सहित आपे अम्हारा घरे भोजन करवा पधारवानुं छे.

हिन्दी अनुवाद—

विनय पूर्वक धनदेव ने राजा से कहा, आप महारानी सहित हमारे घर भोजन करने हेतु पधारें।

गाथा—

हसिऊं रत्ता भणियं न होइ किं सेट्ठिणो इमं गेहं ।

पिउ-सरिसो जं सेट्ठी विचिंतगो सयल-रज्जस्स? ॥११॥

संस्कृत छाया—

हसित्वा राज्ञा भणितं न भवति किं श्रेष्ठिन इदं गेहम् ? ।

पितृसदृशो यत्श्रेष्ठी विचिन्तकः सकलराज्यस्य? ॥११॥

गुजराती अनुवाद—

११. हसीने राजास कहयुं, श्रेष्ठि तो पिता समान सकल राज्यनो हितचिन्तक छे तेथी शुं आ श्रेष्ठिनुं घर न कहेवाय?

हिन्दी अनुवाद—

हँसते हुए राजा ने कहा कि श्रेष्ठि तो सम्पूर्ण राज्य का पिता होता है तो क्या यह घर श्रेष्ठि का नहीं है?

गाहा—

तहवि हु सेट्टी जं भणइ किंचि तं चेव अम्ह कायव्वं ।
इय भणिए धणदेवो महा-पसाउत्ति भणिरुण ॥१२॥
निय-गेहे गंतूणं तक्कालुचियं समत्थ-करणीयं ।
निय-परियणेण कारइ आणंदिय-माणसो जाव ॥१३॥
देवी-सहिओ राया करेणुया-विसर-परिगओ ताव ।
संपत्तो सेट्टि-गिहे बंदि-जणुगघुट्ट-जय-सहो ॥१४॥

संस्कृत छाया—

तथाऽपि खलु श्रेष्ठी यद् भणति किञ्चित्तदेवाऽस्माकं कर्तव्यम् ।
इति भणिते धनदेवो महाप्रसाद इति भणित्वा ॥१२॥
निजगेहे गत्वा तत्कालोचितं समस्तकरणीयम् ।
निजपरिजनेन कारयति आनन्दितमानसो यावत् ॥१३॥
देवीसहितो राजा करेणुकाविसरपरिगतस्तावत् ।
सम्प्राप्तः श्रेष्ठिगृहे बन्दिजनोद्घुष्टजयशब्दः ॥१४॥

तिसृभिः कुलकम् ॥

गुजराती अनुवाद—

१२-१४. राजानुं श्रेष्ठिना घटे आगमन- छातां पण श्रेष्ठी जे कहे छे ते अमाटे कएवुं जोइए आ प्रमाणे कहे छते धनदेव चोल्यो 'आपे महान कृपा कएी' उम् कहीने पोताना घरे जइने आनन्दित मनवालो ते ज्यां सुधीमां कएवा योग्य समस्त कार्य पोताना परिजनो पासे कएवे छे। तेटलीवारमां स्तुतिपाठको द्वारा जोए जोएथी थतां 'जय' ना पूर्वक राजा हाथणीओना समूहथी युक्त देवीओ सहित श्रेष्ठिना घरे पधार्या (तिसृभिः कुलकम्)

हिन्दी अनुवाद—

फिर भी यदि श्रेष्ठि कहते हैं तो हमें अवश्य करना चाहिए। इतना कहने पर धनदेव ने कहा, आपने मुझ पर बड़ी कृपा की यह कहकर अपने घर जाकर आनन्दित होता है और उस समय करणीय सभी कार्यों को अपने परिजनों द्वारा कराता है। तभी हाथियों के समूह सहित बन्दीजनों द्वारा जयघोष किए जाते हुए राजा देवी-सहित श्रेष्ठि के घर पहुँचा। तिसृभिः कुलकम्।

गाहा—

कय-मंगलोवयारो उत्तरिय करेणुयाइ देवि-जुओ ।
धर-मुत्ताहल-विरइय-चउक्क-सीहासणे पवरे ॥१५॥

उवविद्वो देवि-जुओ तत्तो य विलासिणीहिं पवराहिं ।
 आरत्तियावयारण-पमुहम्मि विहिम्मि विहियम्मि ॥१६॥
 भुत्तो दिव्वाहारं निय-परियण-संजुओ जहा-विहिणा ।
 गोसीस-विलत्तंगो परिहाविय-दिव्व-वर-वत्थो ॥१७॥

संस्कृत छाया—

कृतमङ्गलोपचार उत्तीर्थ करेणोर्देवीयुतः ।
 वरमुक्ताफलविरचितचतुष्कसिंहासने प्रवरे ॥१५॥
 उपविष्टो देवीयुतः ततश्च विलासिनीभिः प्रवराभिः ।
 आरात्रिकावतारणप्रमुखे विधौ विहिते ॥१६॥
 भुक्तवान् दिव्याहारं निजपरिजनसंयुक्तो यथा विधिना ।
 गोशीर्षविलिप्ताङ्गः परिधापितदिव्यवरवस्त्रः ॥१७॥

तिसृभिः कुलकम् ॥

गुजराती अनुवाद—

१५-१७. महाराणी सहित हाथणी पर थी ऊतरीने करायेला मंगल
 ऊपचारवालो राजा राणी सहित श्रेष्ठ मुक्ताफलथी निर्मित चतुष्क (चार खुणा
 वाला) सिंहासन पर बैठो...त्यां श्रेष्ठ स्त्रीओ वड़े आरती उतारण वि. विधि
 कराये छते...विधिपूर्वक गोशीर्ष चंदनथी विलेपन करायेला अंगवाला, धारण
 करेला दिव्य वस्त्रयुक्त राजाए स्व परिजन सहित दिव्य आहारनुं भोजन
 कर्यु...

हिन्दी अनुवाद—

मंगलोपचार कराए जाने के बाद राजा हाथी से उतरकर देवी सहित श्रेष्ठ
 मोतियों से अलंकृत चार पैरों वाले सिंहासन पर बैठा। देवी सहित बैठे राजा की
 श्रेष्ठ स्त्रियों ने आरती उतारी। तत्पश्चात् गोशीर्ष चन्दन आदि से विलेपित अंग वाले
 राजा ने दिव्य वस्त्रों वाले परिधान धारण कर स्वपरिजनों सहित दिव्य आहार का
 भोग किया। तिसृभिः कुलकम्।

गाहा—

विणय-नएणं तत्तो धणदेवेणं इमं तु विन्नत्तो ।
 देवीए पिय-भगिणी वज्जरइ इमं महा-राय! ॥१८॥

संस्कृत छाया—

विनय-नतेन ततो धनदेवेन इदन्तु विज्ञप्तः ।

देव्याः प्रियभगिनी कथयति इदं महाराज ! ॥ १८ ॥

गुजराती अनुवाद—

१८. त्यारुचाद विनयथी नम्रेला धनदेवे राजाने विनंति करी- 'हे महाराजा! महाराणीनी प्रियभगिनी कहे छे के-

हिन्दी अनुवाद—

विनयावनत धनदेव ने राजा से विनती किया 'हे महाराज! महारानी की प्रिय भगिनी कहती है कि-

गाहा—

पसवंति पिउ-हरम्मी पढमं किल सयल-वणिय-जायाओ ।

कारण-वसेण केणवि संजायं नेव तं मज्झ ॥१९॥

संस्कृत छाया—

प्रसवन्ति पितृगृहे प्रथमं किल सकलवणिजजायाः ।

कारणवशेन केनाऽपि सज्जातं नैव तन्मम ॥ १९ ॥

गुजराती अनुवाद—

१९. दरेक वणिक् स्त्रीओ पिताना घरे प्रसूति करे छे. परंतु कोई कारणवशात् मारे ते प्रमाणे थयुं नथी...

हिन्दी अनुवाद—

सभी वणिक स्त्रियाँ अपनी पहली प्रसूति पिता के घर पर ही करती हैं किन्तु किसी कारणवश से मेरे साथ ऐसा नहीं हो पाया।

गाहा—

ता देवि-दसंणेणं इहेव किल पिउ-हरंति मन्नामि ।

ता जइ इत्तिय-भूमिं आगच्छइ होइ ता लट्ठं ॥२०॥

संस्कृत छाया

तस्मात् देवीदर्शनेनैव किल पितृगृहमिति मन्ये ।

तस्माद्यदि इयद्भूमिमागच्छति भवति तदा लष्टम् (सुन्दरम्)।२०।

गुजराती अनुवाद—

२०. तेथी महाराणीना दर्शन वडे अहीं ज हुं पितानुं घर छे सम् मानुं छुं तेथी जो अहीं सुधी महाराणी पधारो तो सुंदर...

हिन्दी अनुवाद—

महारानी के दर्शन के बाद यही मेरे पिता का घर है, ऐसा मैं मानती हूँ।
इसलिए महारानी यदि यहाँ आ जाय तो यह अति उत्तम होगा।

गाहा—

एव च तेण भणिए अह देवी राइणा अणुण्णाया ।
सिरिकंताए समीवे संपत्ता कंचुइ-समेया ॥ २१ ॥

संस्कृत छाया—

एवञ्च तेन भणितेऽथ देवी राज्ञाऽनुज्ञाता ।
श्रीकान्तायाः समीपे सम्प्राप्ता कञ्चुकीसमेता ॥ २१ ॥

गुजराती अनुवाद—

२१. आ प्रमाणे तेना वडे कहेवाये छते राजा वडे अनुज्ञा पाभेली
महाराणी कंचुकिनी साथे श्रीकांताना घरे आवी।

हिन्दी अनुवाद—

ऐसा उनके कहने पर महारानी राजा की आज्ञा पाकर अपने कंचुकी
(अन्तःपुराध्यक्ष) सहित श्रीकान्ता के घर आ गयीं।

गाहा—

तत्थ य मणोरमाए विलेवणाहरण-वत्थमाईहिं ।
पूइय भणिया देवी सुयस्स नामं करेसुत्ति ॥ २२ ॥

संस्कृत छाया—

तत्र च मनोरमया विलेपनाऽऽभरणवस्त्रादिभिः ।
पूजयित्वा भणिता देवी सुतस्य नाम कुर्विति ॥ २२ ॥

गुजराती अनुवाद—

२२. त्यां सुंदर विलेपन, आभरण, वस्त्रादि वडे सत्कार करीने
श्रीमतीए कह्युं 'हे महाराणी! पुत्रनुं नाम पाडो'!

हिन्दी अनुवाद—

वहाँ सुन्दर विलेपन, आभरण और वस्त्र आदि से सम्मानित कर धनदेव की
पत्नी ने कहा हे महारानी! पुत्र का नामकरण करें।

गाहा—

भणियं देवीए तओ सिद्धिणि! तुह चैव होइ उचियमिणं ।
तहवि तुमए भणियं कायव्वमवस्समम्हाणं ॥ २३ ॥

संस्कृत छाया—

भणितं देव्या ततः श्रेष्ठिनि ! तवैव भवति उचितमिदम् ।
तथापि त्वया भणितं कर्तव्यमवश्यमस्माकम् ॥ २३ ॥

गुजराती अनुवाद—

२३. महाराणीस कहयुं हे शेठाणीजी! आ कार्य तमने ज उचित छे,
छतां पण तमाचा वडे जे कहेवाय ते अमाटे कएवुं जोइस.

हिन्दी अनुवाद—

महारानी ने कहा, 'हे श्रेष्ठि पत्नी! यह कार्य आप करें यही उचित है तथापि
आप के द्वारा जो भी कहा जायेगा वह करना हमारा कर्तव्य है।

गाहा—

गहिऊण निउच्छंगे तं बालं कमल-कोमल-करेहिं ।
कमलावईए भणिय सुगंध-गंधे खिवंतीए ॥ २४ ॥

संस्कृत छाया—

गृहीत्वा निजोत्सङ्गे तं बालं कमलकोमलकराभ्यां ।
कमलावत्या भणितं सुगन्धगन्धान् क्षिपन्त्या ॥ २४ ॥

गुजराती अनुवाद—

२४. कमल सम्मान कोमल हस्तवडे ते बालकने पोतानी गोदमां ग्रहण
करीने, सुगंधि गंधने प्रसरावती कमलावती राणीस कहयुं।

हिन्दी अनुवाद—

कमलके समान कोमल हाथों से बालक को अपनी गोद में लेकर सुगन्ध
फैलाती हुई कमलावती रानी ने कहा।

गाहा—

सिरिकंताए जणिओ धणदेवेणं तु बालओ एसो ।
माऊ-पिउ-अद्ध-नामो सिरिदेवो नाममेयस्स ॥ २५ ॥

संस्कृत छाया—

श्रीकान्ताया जनितो धनदेवेन तु बालक एषः ।

मात-पित्रर्धनामा श्रीदेवो नामैतस्य ॥ २५ ॥

गुजराती अनुवाद—

२५: (पुत्रनुं नामकरण)- श्रीकांता अने धनदेवनो आ बालक छे. माता-पितानुं अइधा-अइधा नाम सहित आ बालकनुं नाम 'श्रीदेव' थाओ.

हिन्दी अनुवाद—

श्रीकान्ता और धनदेव दोनों का यह बालक है, इसलिए माता-पिता दोनों के आधे नाम के साथ इस बालक का नाम 'श्रीदेव' हो।

गाहा—

अइसोहणं हि नामं विहियं देवीइ इय भणंतेण ।

अविहव-नारि-गणेणं मंगल-सहो समुग्घुडो ॥ २६ ॥

संस्कृत छाया—

अतिशोभनं हि नाम विहितं देव्येति भणता ।

अविधवानारीगणेन मङ्गलशब्दः समुद्घुष्टः ॥ २६ ॥

गुजराती अनुवाद—

२६. महाराणी वड़े अति सुंदर नाम रखायुं, सम् कहती सोहागणनाटीओर मंगल शब्द गुंजाव्यो!

हिन्दी अनुवाद—

महारानी ने बहुत सुन्दर नाम रखा, ऐसा कहकर सुहागन महिलाओं ने मंगल शब्द गाए।

गाहा—

अह तं मणहर-देहं मुट्टीकय-कर-जुयं विसालच्छं ।

सुकुमाल-पाणि-पायं दड्डुण विचिंतए देवी ॥ २७ ॥

संस्कृत छाया—

अथ तं मनोहरदेहं मुष्टिकृतकरयुतं विशालाक्षम् ।

सुकुमारपाणिपादं च्छ्वा विचिन्तयति देवी ॥ २७ ॥

गुजराती अनुवाद—

२७. हवे मनोहर शरीरवाला, मुट्टीमां सभाय तेवा हस्त युगं, विशाल नेत्र, सुकोमल हाथ पगवाला ते बालकने जोइ महाराणी विचारे छे.

हिन्दी अनुवाद—

अब मनोहर शरीर वाले, मुट्टी में समा जायें ऐसे हाथोंवाले, विशाल नेत्र तथा सुकोमल हाथ-पैर वाले उस बालक को देखकर महारानी विचार करती हैं।

गाहा—

धन्ना मज्झ वयंसी जीए सुओ एरिसो समुप्पन्नो ।

जण-मण-नयणाणंदो मह पुण एयंपि न हु जायं ॥ २८ ॥

संस्कृत छाया—

धन्या मम वयस्या यस्याः सुत ईदृशः समुत्पन्नः ।

जनमनोनयनानन्दो मम पुनरेतदपि न खलु जातम् ॥ २८ ॥

गुजराती अनुवाद—

२८. मारी सखी धन्य छे के जेने लोकोना मन अने नेत्रने खुश करनाए सुन्दर पुत्र जनम्यो. मारे तो खो पुत्र नथी.

हिन्दी अनुवाद—

हमारी सखी धन्य है जिसने लोगों के मन और आँखों को आनन्दित करने वाला पुत्र पैदा किया है। मेरे पास तो ऐसा पुत्र नहीं है।

गाहा—

किं मज्झ जीविणं किंवा मह विहल-गव्व-रज्जेण ।

जां निय-तणयस्स मुहं पिच्छामि न मंद-भग्गत्ति ॥ २९ ॥

संस्कृत छाया—

किं मम जीवितेन किंवा मम विफलगर्धराज्यन ।

यावत् निजतनयस्य मुखं प्रेक्षे न मन्दभाग्येति ॥ २९ ॥

गुजराती अनुवाद—

२९. (राणीनी पुत्र झंखना)— अथवा राज्यना फोगट गर्व वडे शुं? के मंद भाग्यवाली हूं पुत्रना मुखने नथी जोती तो मारा जीववा वडे शुं? के मन्द भाग्यवाली हूं पुत्रना मुखने नथी जोती तो मारा जीववा वडे शुं।

हिन्दी अनुवाद—

जबतक अपने स्वयं के पुत्र का मुख न देख लूं मैं मन्दभाग्यवाली ही कही जाऊँगी। मेरे जीने से क्या लाभ? मुझे राज्य का अनावश्यक गर्व क्यों हो?

गाहा—

एमाइ चिंतयंती आभासित्ता वयंसियं निययं ।

रत्ना सहिया देवी संपत्ता नियय-गेहम्मि ॥ ३० ॥

संस्कृत छाया—

एवमादि चिन्तयन्त्याभाष्य वयस्यां निजकाम् ।

राज्ञा सहिता देवी सम्प्राप्ता निजगेहे ॥ ३० ॥

गुजराती अनुवाद—

३०. इत्यादि विचारते कष्टती पोतानी सखीने कहीने राजा सहित महाराणी पोताना महेले गई.

हिन्दी अनुवाद—

यह विचारती हुई रानी अपनी सखी को कहकर अपने महल में चली गयी।

गाहा—

तत्थ य तं चितंती सुय-जम्मुक्कंठिया ससोइल्ला ।

परिचत्त-देह-चिट्ठा उव्विग्गा सयल-कज्जेसु ॥ ३१ ॥

मत्ता व मुच्छिया इव सुत्तव्व मयव्व विगय-सत्तव्व ।

झाण-गय-जोगिणि इव उवरय-नीसेस-वावारा ॥ ३२ ॥

परिहायंत-सरीरा गुरु-सोयायास-साम-मुह-कमला ।

रत्ना कयाइ दिट्ठा पुट्ठा कमलावई ताहे ॥ ३३ ॥

संस्कृत छाया—

तत्र च तं चिन्तयन्ती सुतजन्मोत्कण्ठिता सशोकवती ।

परित्यक्तदेहचेष्टोद्विग्ना सकलकार्येषु ॥ ३१ ॥

मत्तेव मूर्च्छितेव सुप्तेव मृतेव विगतसत्त्वेव ।

ध्यानगतयोगिनीव उपरतनिःशेषव्यापारा ॥ ३२ ॥

परिहीयमानशरीरा गुरुशोकायासश्याममुखकमला ।

राज्ञा कदाचिददृष्टा पृष्टा कमलावती तदा ॥ ३३ ॥ तिसृभिः कुलकम्

गुजराती अनुवाद—

३१-३३. हवे ते बालकने याद करती पुत्र जन्म माटे उत्सुक, शोकयुक्ता, शरीरानी अन्य चेष्टाओथी रहित, सकल कार्योमां उद्धिन्न पागल जेवी, जाणे मूर्च्छा पामेली, सूतेलानी जेम-मरेलानी जेम-जाणे प्राण रहित, ध्यानमां रहेल योगिनीनी जेम समस्त व्यापाररहित, दुबला शरीरवाली, भारे शोकना कारणे श्याममुखकमलवाली ते क्यारेक राजा वडे जोवाई अने त्यारे कमलावती राणीने पूछ्यु... (तिसृभिः कुलकम्)

हिन्दी अनुवाद—

उस बालक को याद करती हुई पुत्र जन्म के लिए उत्सुक शोकयुक्त, शरीर की सभी चेष्टाओं से रहित सभी-कार्यों में पागलों जैसी उद्धिन्न, जैसे मूर्च्छित हो गयी हो, बिना प्राण के मरे हुए के समान सोई हुई, ध्यान में मग्न योगिनी की तरह सभी व्यापारों से रहित दुबली शरीर वाली भारी शोक से सन्तप्त होने के कारण मलिन मुखवाली को राजा कदाचित् देखकर कमलावती रानी से पूछा। (तिसृभिः कुलकम्)

गाहा—

देवि! तुमं किं विमणा दुब्बल-देहा य दीससे इण्हं ।

किं वंछियं न पुज्जइ साहीणे किंकरम्मि मए? ॥ ३४ ॥

संस्कृत छाया—

देवि त्वं किं विमना दुर्बलदेहा च दृश्यस-इदानीम् ।

किं वाञ्छितं न पूर्यते स्वाधीने किङ्करे मयि ॥ ३४ ॥

गुजराती अनुवाद—

३४. हे देवि! हालमां तुं विमनस्का तथा दुर्बल देहवाली केम देखाय छे? नोकरो मने स्वाधीन होते छते पण शुं ताटी ईच्छा पूर्ण नथी थती?

हिन्दी अनुवाद—

हे देवि! आप अन्यमनस्क तथा दुर्बल देहवाली क्यों दिख रही हैं? क्या हमारे अधीन रहने वाले नौकर आपकी इच्छा पूर्ति नहीं कर पा रहे हैं?

गाहा—

भणियं देवीए तओ अंसु-जलासार-सित्त-सिहिणाए ।

पिययम! तुह प्पसाया संपज्जइ वंछियं सव्वं ॥ ३५ ॥

संस्कृत छाया—

भणितं देव्या ततोऽश्रुजलासारसिक्तस्तनया ।

प्रियतम ! तव प्रसादात् सम्पद्यते वाञ्छितं सर्वम् ॥ ३५ ॥

गुजराती अनुवाद—

३५. त्याचे अश्रुजलधाराची सिंचायेला स्तनवाली देवीस कहुं—हे प्रियतम! तारा प्रसाद थी बधा वांछित पूर्ण थाय छे.

हिन्दी अनुवाद—

तब अश्रुजल धारा से सिंचित स्तनवाली देवी ने कहा— हे प्रियतम! आपकी कृपा से सभी वांछित कार्य सम्पन्न होते हैं।

गाहा—

तं नत्थि किंपि सोक्खं तुह प्पसायाउ जं न मे पत्तं ।

नवरं पुत्त-पलोयण-सोक्खं सुइणोवि नो दट्ठं ॥ ३६ ॥

संस्कृत छाया—

तन्नास्ति किमपि सुखं तव प्रसादात् यन्न मह्यं प्राप्तम् ।

नवरं पुत्रप्रलोकनसौख्यं स्वप्नेऽपि नो दृष्टम् ॥ ३६ ॥

गुजराती अनुवाद—

३६. तारा प्रसादथी सवुं कोई पण सुख नथी जे मने प्राप्त न थयुं होय... मात्र पुत्र दर्शननुं सुख स्वप्नमां पण जोयुं नथी.

हिन्दी अनुवाद—

आपकी कृपा से ऐसा कोई सुख नहीं है जो मुझे प्राप्त नहीं है। मात्र पुत्र जन्म का सुख मैंने स्वप्न में भी नहीं देखा।

गाहा—

धन्नाउ ताउ नारीओ इत्थ जाओ अहोनिंसिं नाह!।

निययं थणं धयंतं थणंधयं हंदि! पिच्छंति ॥ ३७ ॥

संस्कृत छाया—

धन्यास्ता नार्योऽत्र या अहर्निशं नाथ ! ।

निजकं स्तनं धयन्तं स्तनन्धयं हन्दि ! प्रेक्षन्ते ॥ ३७ ॥

गुजराती अनुवाद—

३७. हे नाथ! ते नाचीओ धन्य छे के जेओ निरंतर पोतानां स्तननुं पान करनार नवजात शिशुने खरेखर जुवे छे।

हिन्दी अनुवाद—

हे नाथ! वे नारियाँ धन्य हैं जो निरन्तर स्तनपान करते हुए नवजात शिशु को देखती हैं।

गाहा—

पच्छा परिणीयाइवि सिरिकंताए सुओ समुप्पन्नो ।

तुमए मन्नायाए न पुणो मह मंदभागाए ॥ ३८ ॥

संस्कृत छाया—

पश्चात् परिणीतायामपि श्रीकान्तायां सुतः समुत्पन्नः ।

त्वया मान्याया न पुनर्मम मन्दभागायाः ॥ ३८ ॥

गुजराती अनुवाद—

३८. मारु पछी परणेली सवी श्रीकांताने पुत्र थइ गयो. परंतु ताची मानिती होवा छतां मन्द भाग्या सवी मने हजु पुत्र नथी थयो.

हिन्दी अनुवाद—

मैं बाँसुकीवीह कुसुनेवाली श्रीकान्ता को भी पुत्र हो गया। किन्तु आप द्वारा सम्मान्य होने पर भी आज तक मुझे पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई।

गाहा—

ता देव! देसु पुत्तं अह नवि ता नत्थि जीवियं मज्झ ।

तुडइ थणोवि अह एइ खीरमन्ना गई नत्थि ॥ ३९ ॥

संस्कृत छाया—

तस्माद् देव ! देहि पुत्रमथ नाऽपि तर्हि नास्ति जीवितं मम ।

व्रुद्यतः स्तनावपि अथ एति क्षीरमन्या गति-नास्ति ॥ ३९ ॥

गुजराती अनुवाद—

३९. तेथी हे देव! हवे पुत्र आप! ते (पुत्र) नथी तो मारु जीवन नथी. मारु स्तन तूटी जशे. अथवा तेमां दूध आवशे ते सिवाय कोई गति नथी...

हिन्दी अनुवाद—

इसलिए हे देव! मुझे पुत्र दें नहीं तो उसके बिना मेरा जीवन नहीं है। मेरे स्तन या तो टूट जायेंगे या उनसे दूध निकलने के अलावा कुछ नहीं होगा।

गाहा—

तत्तो रन्ना भणियं एत्थत्थे कुणसु देवि! मा सोगं ।
आराहिता तियसं पूरेमि मणोरहेऽवस्सं ॥४०॥

संस्कृत छाया—

ततो राज्ञा भणितमत्रार्थे कुरु देवि ! मा शोकम् ।
आराध्य त्रिदशं पूरयामि मनोरथानवश्यम् ॥ ४० ॥

गुजराती अनुवाद—

४०. त्याटे राजास कहयुं— 'हे देवि! आ विषयमां शोक न कर, देवनी आराधना करीने अवश्य ताचा मनोरथ पूर्ण करीश.

हिन्दी अनुवाद—

तब राजा ने कहा, 'हे देवि इस विषय में आप शोक न करें। मैं देव की आराधना कर आपका मनोरथ अवश्य पूरा करूंगा।

गाहा—

इय भणिऊणं राया काउं पूयं जिणिंद-पडिमाणं ।
सिय-वसण-धरो उम्मुक्क-सयल-मणि-कंचणाहरणो ॥४१॥
पोसह-सालं गंतुं अट्टम-भत्तं पगिणिहउं विहिणा ।
कुस-सत्थरे निसन्नो एवं भणिउं समाढतो ॥४२॥

संस्कृत छाया—

इति भणित्वा राजा कृत्वा पूजां जिनेन्द्रप्रतिमानाम् ।
सितवसनधर उन्मुक्तसकलमणिकञ्चनाऽऽभरणः ॥ ४१ ॥
पौषधशालां गत्वाऽष्टमभक्तं प्रगृह्य विधिना ।
कुशसंस्तारे निषण्ण एवं भणितुं समारब्धः ॥ ४२ ॥

गुजराती अनुवाद—

४१-४२. (देव आराधना)— रम कहीने श्वेतवस्त्रधारी, सम्स्तमणि

तथा सुवर्णना अलङ्कारोनी त्याग करेला राजास जिनबिम्बोनी पूजा कटीने,
पौषधशालामां जईने विधिवडे अड्डमनुं पच्चक्खाण कटी कुशाना संथारामां
सवा रहीने तेणे कहेवानो प्रारंभ कर्यो. (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद—

ऐसा कहकर समस्त मणि और स्वर्णाभूषणों को त्यागकर श्वेतवस्त्रधारी राजा
ने जिनबिम्ब की पूजा कर, पौषधशाला में जाकर विधिपूर्वक अड्डं का प्रत्याख्यान
कर कुश के संस्तारक पर आसीन होकर कहना प्रारम्भ किया।

गाहा—

देवो व दाणवो वा जिण-सासण-भक्ति-संजुओ कोवि ।
जह संनिहिओ सिग्घं आगच्छउ वंछियं देउ ॥ ४३ ॥

संस्कृत छाया—

देवो वा दानवो वा जिनशासनभक्तिसंयुक्तः कोऽपि ।
यथा संनिहितः शीघ्रमागच्छतु वाञ्छितं ददातु ॥ ४३ ॥

गुजराती अनुवाद—

४३. जिनशासन ना प्रत्ये भक्तिवालो कोई पण देव होय के दानव
होय जे नजीक होय ते जल्दी आवो अने माछं इच्छित पूर्ण कटो.

हिन्दी अनुवाद—

जिन शासन के प्रति भक्तिवाला कोई भी देव या दानव जो समीप हो, हमारी
इच्छा पूर्ण करे।

गाहा—

एवं च चिंतयंतो एगंते संनिरुद्ध-जण-पसरो ।
निच्चल-देहो चिट्ठइ राया जा तिननि दियहाइं ॥ ४४ ॥
ता रयणि-चरिम-जामे विद्धंसिय-सयल-तिमिर-संघायं ।
भासुर-देहं पुरिसं दट्टूण विचिंतए राया ॥ ४५ ॥

संस्कृत छाया—

एवञ्च चिन्तयन्नेकान्ते संनिरुद्धजनप्रसरः ।
निश्चलदेहस्तिष्ठति राजा यावत् त्रिणि दिवसानि ॥ ४४ ॥
तावद्भ्रजनीचरमयामे विध्वंसितसकलतिमिरसङ्घातम् ।
भासुरदेहं पुरुषं दृष्ट्वा विचिन्तयति राजा ॥ ४५ ॥ युग्मम् ॥

गुजराती अनुवाद—

४४-४५. आ प्रमाणे विचार करतां लोकरहित सकांतस्थानमां निश्चल देहवालो राजा त्रण दिवस गये छते रात्रिना छेल्ला प्रहरमां अंधकारनो नाश करनार सवा देदीप्यमान पुरुषने जोइने विचारते छे. (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार विचार करते हुए एकान्त स्थान में जहाँ लोगों का आना जाना न हो, निश्चल शरीर वाला राजा तीन दिन बैठकर रात्रि के अन्तिम पहर में, जिसने समस्त अन्धकार समूह का नाश कर दिया है, ऐसे देदीप्यमान पुरुष को देखकर विचार करता है। (युग्मम्)

गाहा—

निमिसंति लोयणाइ ता किं एसो न होइ देवोत्ति ।
न य मणुयाण सरीरे जायइ एवंविहा दित्ती ॥४६॥

संस्कृत छाया—

निमिषतो लोचने तस्मात्किमेष न भवति देव इति ।
न च मनुजानां शरीरे जायतैवविधा दीप्तिः ॥ ४६ ॥

गुजराती अनुवाद—

४६. पलकारा युक्तलोचनवालो होवाथी आ देव तो न होइ शके, तथा मनुष्योना शरीरमां आवा प्रकारनी काति नथी होती।

हिन्दी अनुवाद—

आखों की पलकें हिलने से यह देव तो नहीं हो सकता और मनुष्यों के शरीर में ऐसी कान्ति सम्भव नहीं है।

गाहा—

ता होज्ज इमो को पुण चरणावि महिं फुसंति नेयस्स ।
एवं विगप्पयंतो राया आभासिओ तेण ॥४७॥

संस्कृत छाया—

तर्हि भवेदयम् कः पुनश्चरणावपि महीं स्पृशतो नैतस्य ।
एवं विकल्पयन् राजा आभाषितस्तेन ॥ ४७ ॥

गुजराती अनुवाद—

४७. तो आ कोण हशे? वली आना चरणो पण पृथ्वी तलने स्पर्शता नथी. आ प्रमाणे विकल्पो करतो राजा ते देववडे बोलावायो.

हिन्दी अनुवाद—

तो यह है कौन? इसके पैर भी जमीन को स्पर्श नहीं करते। ऐसा विचार करते हुए राजा ने उस देव से कहलाया।

गाहा—

भो अमरकेउ-नर-वर! उग-तवेणं किलामिओ सि न किं? ।

एवं भणमाणो सो अब्भुट्टिय राइणा भणिओ ॥४८॥

संस्कृत छाया—

भो अमरकेतुनरवर ! उग्रतपसा क्लान्तोऽसि न किम् ? ।

एवं भणन् सोऽभ्युत्थाय राज्ञा भणितः ॥ ४८ ॥

गुजराती अनुवाद—

४८. हे अमरकेतु राजा! उग्र तपथी तूं थाव्यो नथी ने? आ प्रमाणे कह्युं त्यारे उभो थईने राजा बोळ्यो.

हिन्दी अनुवाद—

हे अमर केतु राजा! उग्र तपस्या से कहीं आप थक तो नहीं गए हैं। ऐसा कहे जाने पर उठकर राजा ने कहा।

गाहा—

को सिं तुमं कत्तो वा समागओ कहसु मह महाभाग! ? ।

भणियं सुरेण नर-वर! कहेमि कोरुहलं जइ ते ॥४९॥

संस्कृत छाया—

कोऽसि त्वं, कुतो वा समागतः, कथय मम महाभाग? ।

भणितं सुरेण नरवर ! कथयामि कुतूहलं यदि ते ! ॥ ४९ ॥

गुजराती अनुवाद—

४९. हे महाभाग्यशाली! तमे कोण छे? क्यां थी पधार्या? मने कहे, देव वडे कहेवायुं- हे राजा! जो तने कुतूहल होय तो कहुं?

हिन्दी अनुवाद—

हे महाभाग! तुम कौन हो? तुम कहां से आये हो मुझसे कहो। देव ने कहा हे राजा यदि तुम्हें कुतूहल है तो सुनो—

गाहा—

ईसाण-कप्प-धासी विहुप्पहो नाम सुर-वरो अहयं ।
आसन्न-चवण-समओ पर-लौय-हियं समायरिउं ॥५०॥
तित्थयर-वंदणत्थं विदेह-वासम्मि आगओ आसि ।
तत्थ मए सो भयवं आपुट्ठो नियय-वुत्तंतं ॥५१॥

संस्कृत छाया—

ईशानकल्पवासी विद्युत्प्रभो नाम सुरवरोऽहम् ।
आसन्नच्यवनसमयः परलोकहितं समाचरितुम् ॥ ५० ॥
तीर्थकरवन्दनार्थं विदेहवर्षेऽऽगत आसम् ।
तत्र मया स भगवन् आपृष्टो निजवृत्तान्तः ॥ ५१ ॥ युगम् ॥

गुजराती अनुवाद—

५०-५१. (देववाणी)— ईशानकल्पवासी विद्युत्प्रभ नाम्नो हुं देव छुं नजीकमां ज च्यवन समय होवाथी परलोकनुं हित साधवा तीर्थकर वंदना माटे हुं महाविदेह श्रेत्रमां गयो हतो, त्यां मारा वडे पोतानो वृत्तांत भगवानने पूछायो. (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद—

मैं ईशानकल्पवासी विद्युत्प्रभ नाम का देव हूँ। च्यवन समय नजदीक होने से परलोक हित साधने हेतु तीर्थकर वन्दना के लिए विदेह क्षेत्र में गया था। वहाँ मुझसे भगवान ने निज वृत्तान्त पुछवाया।

गाहा—

उप्पत्ती कत्थ महं चुयस्स एत्तो भविस्सए भयवं !? ।
तत्तो जिणेण भणियं भरहम्मि य हत्थिणपुरम्मि ॥५२॥
जो अच्छइ पुत्तत्थी पोसह-सालाइ पोसहम्मि ठिओ ।
सिरि-अमरकेउ-राया तस्स तुमं होसि पुत्तोत्ति ॥५३॥

संस्कृत छाया—

उत्पत्तिः कुत्र मम च्युतस्येतो भविष्यति भगवन् ? ।

ततो जिनेन भणितं भरते च हस्तिनापुरे ॥ ५२ ॥

य आस्ते पुत्रार्थी पौषधशालायां पौषधे स्थितः ।

श्री अमरकेतुराजा तस्य त्वं भविष्यसि पुत्र इति ॥५३॥ युगम्

गुजराती अनुवाद—

५२-५३. हे भगवन्! अहींथी च्यवेला खा माणे जन्म क्यां थशे? त्याचे भगवाने जणाव्यु. 'भरतक्षेत्रमां हस्तिनापुर नगरमां पुत्रानो अर्थी पौषधशालामां पौषधमां र्हेलो जे श्री अमरकेतु राजा छे, तेनो तुं पुत्र थईश.

हिन्दी अनुवाद—

हे भगवन्! यहाँ से च्युत होने पर मेरा जन्म कहाँ होगा? तब भगवान ने बताया कि भरतक्षेत्र के हस्तिनापुर नगर में पुत्रार्थी पौषधशाला के पौषध में रह रहे अमरकेतु राजा के पुत्र के रूप में तुम्हारा जन्म होगा।

गाहा—

तव्वयणं सोऊणं समागओ राय! तुह समीवम्मि ।

ता मा कुणसु किलेसं अहयं होहामि तुह पुत्तो ॥५४॥

संस्कृत छाया—

तद्वचनं श्रुत्वा समागतो राजन् ! तव समीपे ।

तस्माद् मा कुरु क्लेशमहं भविष्यामि तव पुत्रः ॥ ५४ ॥

गुजराती अनुवाद—

५४. परमात्मानुं वचन सांभलीने हे राजन्! तमाणे पासे आव्यो छुं, तेथी क्लेश न करे, हुं तमाणे पुत्र थईश!

हिन्दी अनुवाद—

परमात्मा का वचन सुनकर हे राजन्! मैं तुम्हारे पास आया हूँ। इसलिए तुम क्लेश मत करो। मैं तुम्हारे पुत्र के रूप में जन्म लूंगा।

गाहा—

गेणहसु कुंडल-जुयलं नरिंद! एयं तओ उ देवीए ।

जीए इच्छसि पुत्तं दायव्वं तीइ आभरणं ॥५५॥

संस्कृत छाया—

गृहाण कुण्डलयुगलं नरेन्द्र ! एतत्तस्तु देव्याः ।

यस्या इच्छसि पुत्रं दातव्यं तस्यै आभरणम् ॥ ५५ ॥

गुजराती अनुवाद—

५५. (देव द्वारा कुंडलयुगल प्रदान)—

तेथी हे राजा! आ कुंडल युगलने ग्रहण कर. तथा जे देवीथी तुं पुत्रने इच्छे छे तेने आ आभरण आपवुं.

हिन्दी अनुवाद—

(देव द्वारा कुंडल युगल प्रदान) इसलिए हे राजा! यह कुण्डल युगल ग्रहण करें और जिस देवी के पुत्र रूप में जन्म लेना चाहते हों, उसे ही यह आभूषण दें।

गाहा—

इय भणिउं कन्नाणं उत्तारिय कुंडलाइं दिव्वाइं ।

रज्ञो समप्यऊणं देवो अहंसणीभूओ ॥ ५६ ॥

संस्कृत छाया—

इति भणित्वा कर्णाभ्यामुत्तार्य कुण्डले दिव्ये ।

राज्ञे समर्प्य देवोऽदर्शनीभूतः ॥ ५६ ॥

गुजराती अनुवाद—

५६. आ प्रमाणे कहीने कर्णमांथी छे दिव्य कुंडल उतारी राजाने आपी देव अदृश्य थयो.

हिन्दी अनुवाद—

यह कहकर अपने कान से दो दिव्य कुंडल उतार कर राजा को दिया और देव अन्तर्धान हो गया।

गाहा—

रन्नावि रयणि-विरमे गंतुं देवीए वियसिय-मुहेण

सुर-दंसणाइ सव्वो वुत्तंतो साहिओ तत्तो ॥ ५७ ॥

संस्कृत छाया—

राज्ञाऽपि रजनीविरमे गत्वा देव्या विकसितमुखेन ।

सुरदर्शनादिः सर्वो वृत्तान्तः कश्चित्तस्ततः ॥ ५७ ॥

गुजराती अनुवाद—

५७. (राजा द्वारा महाराणीने कुंडल युगल प्रदान)–

प्रसन्न मुखवाला राजास सवारे महाराणी पास जईने देव दर्शन विगेरे
सर्व वृत्तांत कह्यो।

हिन्दी अनुवाद—

प्रसन्न मुखवाला राजा भी सुबह होने पर रानी के पास जाकर देवदर्शनादि
का वृत्तान्त कहा।

गाथा—

कुंडल-जुयलं अप्पिय पभाय-किच्चं करित्तु नीसेसं ।
पडिलाहिय साहु-जणं सयं पभुत्तो वराहारं ॥५८॥

संस्कृत छाया—

कुण्डलयुगलमर्पयित्वा प्रभातकृत्यं कृत्वा निःशेषम् ।
प्रतिलाभ्य साधुजनं स्वयं प्रभुक्तो वराहारम् ॥ ५८ ॥

गुजराती अनुवाद—

५८. महाराणी ने कुंडल युगल आपीने, समस्त प्राभातिक कृत्य करीने,
साधु भगवंतने वहीरावीने पोते श्रेष्ठ भोजन कर्यु—

हिन्दी अनुवाद—

महारानी को कुण्डल युगल देकर, सभी ने प्रातः क्रिया से निवृत्त होकर साधु
भगवन्तों को आहार बहोरा कर स्वयं श्रेष्ठ भोजन किया।

गाथा—

अह अन्नया य देवी रिउ-णहाया रयणि-चरिम-जामम्मि ।
दट्टुं सुमिणं सहसा पडिबुद्धा वेविर-सरीरा ॥५९॥

संस्कृत छाया—

अथान्यदा च देवी ऋतुस्नाता रजनीचरमयामे ।
ष्ट्वा स्वप्नं सहसा प्रतिबुद्धा वेपमानशरीरा ॥ ५९ ॥

गुजराती अनुवाद—

५९. (महाराणीने स्वप्नदर्शन)

हवे कोई समये ऋतु स्नाता, कंपता शरीरवाली राणी स्वप्न जोइने
रात्रिना चरम समये सकदम जागी।

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार एक दिन रानी ऋतु स्नानोपरान्त कम्पित शरीर वाली रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न देखकर सहसा जाग गयी।

गाथा—

भणिया रत्ना सुंदरि! कीस अकम्हाओ कंपिया तं सि ।
तीए भणियं पिययम! संपइ सुमिणं मए दिहुं ॥ ६० ॥

संस्कृत छाया—

भणिता राज्ञा सुन्दरि ! कस्मादकस्मात् कम्पिता त्वमसि ।
तथा भणितं प्रियतम ! सम्प्रति स्वप्नं मया दृष्टम् ॥ ६० ॥

गुजराती अनुवाद—

६०. राजारु कह्युं- हे सुन्दरी! तुं ओचिंती केम कंपवा लागी? त्याटे
महाराणीरु कह्युं 'हे प्रियतम! हमणा में स्वप्न जोयुं छे!

हिन्दी अनुवाद—

राजा ने कहा, हे सुन्दरी! तुम अचानक कैसे कांप रही हो। तब महारानी
ने कहा 'हे प्रियतम! अभी-अभी हमने एक स्वप्न देखा है।

गाथा—

किल कणगमओ कलसो मज्झ मुहे पविसिउं विणिक्खंतो ।
केणावि भंजणत्थं नीओ दूरं स कुब्बेण ॥ ६१ ॥

संस्कृत छाया—

किल कनकमयः कलेशो मम मुखे प्रविश्य विनिष्कामन् ।
केनाऽपि भ्रूजनाथं नीतो दूरं स कुब्देन ॥ ६१ ॥

गुजराती अनुवाद—

६१. सुवर्णमय कलश मारु मुखमां प्रवेशीने नीकली गयो- कुब्द
थयेलो कोई तेने भागवां माटे दूर लई गयो।

हिन्दी अनुवाद—

मैंने देखा कि सुवर्णमय कलश प्रवेश कर निकल गया। कुब्द हुआ कोई
व्यक्ति उसे तोड़ने के लिए दूर ले गया।

गाहा—

पुणरवि बहु-कालाओ कहवि हु लब्धो स खीर-पडिपुत्रो ।
सिय-कुसुम-मालियाए मएवि संपूइओ तत्तो ॥६२॥

संस्कृत छाया—

पुनरपि बहुकालात् कथमपि खलु लब्धः स क्षीरप्रतिपूर्णः ।
सितकुसुममालया मयाऽपि सम्पूजितस्ततः ॥ ६२ ॥

गुजराती अनुवाद—

६२. अने फटी पाछे घणा समये क्यांयथी पण ते कलश खीरथी
भरेलो प्राप्त थयो, त्याच पछी पुष्पनी माला वडे में पण तेनी पूजा कटी।

हिन्दी अनुवाद—

उसके बाद काफी समय बाद किसी प्रकार वह कलश खीर से भरा हुआ
प्राप्त हुआ। तब मैंने पुष्प की माला से उसकी पूजा की।

गाहा—

एयं सुमिणं ददुं मुह-कडुयं परिणईइ सुंदरयं ।
जाओ भएण कंपो मह देहे तेण नर-नाह! ॥६३॥

संस्कृत छाया—

एतत् स्वप्नं दृष्ट्वा मुखकटुकं परिणत्यां सुन्दरम् ।
जातो भयेन कम्पो मम देहे तेन नरनाथ ! ॥ ६३ ॥

गुजराती अनुवाद—

६३. प्रादंभ्यां कटुक तथा परिणाम्भ्यां (अंते) सुंदर आ स्वप्नने जोइने
हे राजन! तेथी भयवडे माचा शरीरमां कंप थयो छे।

हिन्दी अनुवाद—

प्रारम्भ में कड़वा किन्तु सुन्दर अन्त वाला वह स्वप्न देखकर हे राजन! उसके
भय से मेरा शरीर कांपने लगा।

गाहा—

तं सोऊण नरिंदो जाओ सोगाउरो दढं हियए ।
वज्जरइ देवि! सुविणं लाभं सुएइ तणयस्स ॥६४॥

संस्कृत छाया—

तच्छ्रुत्वा नरेन्द्रो जातः शोकातुरो ह्यं हृदये ।

कथयति देवि ! स्वप्नो लाभं सूचयति तनयस्य ॥ ६४ ॥

गुजराती अनुवाद—

६४. ते सांभलीने हृदयमां अत्यंत शोकातुरे थयेल्ला राजास्य कहयुं. हे देवि! आ स्वप्न पुत्रनो लाभ सूचवे छे.

हिन्दी अनुवाद—

यह सुनकर हृदय में अत्यन्त शोकाकुल होकर राजा ने कहा, हे देवि! यह स्वप्न पुत्र लाभ की सूचना देता है।

गाहा—

सेसं च सुविण-जाणग-पुच्छग-विहिणा वियाणिउं तुज्झ ।

साहिस्सं मा काहिसि उव्वेगं किंचि हिययम्मि ॥ ६५ ॥

संस्कृत छाया—

शेषं च स्वप्नज्ञापकपृच्छकविधिना विज्ञाय तव ।

कथयिष्यामि मा करिष्यसि उद्वेगं किञ्चिद्हृदये ॥ ६५ ॥

गुजराती अनुवाद—

६५. अने चाकीनुं सर्व, स्वप्न जाणकारने विधिपूर्वक पूछीने, जाणीने, तने कहीश, तेथी हृदयमां जरा पण उद्वेग न करत।

हिन्दी अनुवाद—

शेष स्वप्न पाठकों से विधिपूर्वक पूछ कर तथा जानकारी लेकर मैं आपको बताऊंगा। इसलिए आप हृदय में कोई उद्वेग न लाएं।

गाहा—

तत्तो पभाय-समए गंतुं अत्थाण-मंडवे राया ।

आणवइ सुमिण-सत्थत्थ-जाणए झत्ति बाहरह ॥ ६६ ॥

संस्कृत छाया—

ततः प्रभातसमये गत्वाऽऽस्थानमण्डपे राजा ।

आज्ञापयति स्वप्नशास्त्रार्थज्ञापकान् झटिति व्याहरत ॥ ६६ ॥

गुजराती अनुवाद—

६६. त्याएवाढ सवाटे सभा-मंडपमां जईने राजास 'जल्दीथी स्वप्न पाठकीने चोलावो ते प्रमाणे आज्ञा कयी।

हिन्दी अनुवाद—

उसके बाद सुबह सभामंडप में आकर राजा ने 'शीघ्र स्वप्नपाठकों को बुलाओ, ऐसा आदेश दिया।

गाहा—

तत्थ निउत्त-नरेहिं तहेव संपाडियाए आणाए ।

सामंत-मंति-पुर-नायगेहिं पुन्नम्मि अत्थाणे ॥ ६७ ॥

कय-विणया सुविणान्नु उवविट्ठा अह नरिंद-आसन्ने ।

धणदेवोवि हुरन्नो आसन्नो च्चैव उवविट्ठो ॥ ६८ ॥

संस्कृत छाया—

तत्र नियुक्तनरैस्तथैव सम्पादितायामाज्ञायाम् ।

सामन्तमन्त्रिपुरनायकैः पूर्णं आस्थाने ॥ ६७ ॥

कृतविनयाः स्वप्नज्ञा उपविष्टा अथ नरेन्द्राऽऽसन्ने ।

धनदेवोऽपि खलु राज्ञ आसन्न एवोपविष्टः ॥ ६८ ॥ युग्मम् ॥

गुजराती अनुवाद—

६७-६८. (स्वप्नपाठकीनुं आगमन)

नियुक्त लोको वडे ते ज प्रमाणे आज्ञा पालन कराये छते सामन्त-मन्त्री तथा नगरना श्रेष्ठीओथी भरेली सभामां विनयपूर्वक हवे स्वप्नपाठकी राजानी नजीक बैठे, धनदेव पण राजानी नजीक ज बैठे। (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद—

नियुक्त लोगों द्वारा उसके अनुसार आदेश पालन कराए जाने पर सामन्त, मन्त्री तथा शहर के श्रेष्ठ लोगों से भरी सभा में स्वप्नपाठक राजा के नजदीक बैठे। धनदेव भी राजा के नजदीक बैठे।

गाहा—

तत्तो रन्ना तेसिं सिद्धो सुर-दंसणाइ-वुत्ततो ।

पुव्वुत्तो सव्वीवि हु सुविणग-उवलंभ-अवसाणे ॥ ६९ ॥

संस्कृत छाया—

ततो राज्ञा तेषां शिष्टः सुरदर्शनादिवृत्तान्तः ।

पूर्वोक्तः सर्वोऽपि खलु स्वप्नोपलम्भावसाने ॥ ६९ ॥

गुजराती अनुवाद—

६९. त्याचे राजास तेओने देवना दर्शनथी प्रारंभीने पूर्वोक्त समस्त वृत्तान्त स्वप्नानी प्राप्ति पर्यन्तनो कहयो.

हिन्दी अनुवाद—

तब राजा ने उस देवदर्शन की घटना से प्रारम्भ कर स्वप्न पर्यन्त तक की सम्पूर्ण घटना को बताया।

गाहा—

सम्मं विणिच्छिरुणं सुविण-सरूवं कहेह भो! तत्तं ।

इय भणिया ते रन्ना अन्नोन्नं जाव चिंतितं ॥७०॥

ताव य धणदेवेणं भणियं नर-नाह! देसु अवहाणं ।

सुविण-परमत्थ-जाणण-हेउं निसुणेसु सुत्तुंतं ॥७१॥

संस्कृत छाया—

सम्यग् विनिश्चित्य स्वप्नस्वरूपं कथयत भो ! तत्त्वम् ।

इति भणिता ते राज्ञाऽन्योन्यं यावच्चिन्तयन्ति ॥ ७० ॥

तावच्चधनदेवेन भणितं नरनाथ ! देहि अवधानम् ।

स्वप्नपरमार्थज्ञानहेतु निश्रृणुत वृत्तान्तम् ॥७१॥ युग्मम् ॥

गुजराती अनुवाद—

७०-७१. 'हे स्वप्नपाठको! तमे साठी चीते विचारिने तच्च जणावो,' आ प्रमाणे राजा वडे कहेवायेला तेओ परस्पर ज्यां विचारे छे. तेतलीवारमां धनदेवे कह्युं- हे राजन्! सावधान बनो. स्वप्नना परमार्थनि जाणवा माटे आ वृत्तांत सांभलो...

हिन्दी अनुवाद—

राजा ने कहा- हे स्वप्नपाठकों! तुम अच्छी प्रकार विचार कर स्वप्न के तत्त्व को बताओ। राजा के ऐसा कहने पर वे परस्पर विचार करने लगे। तभी धनदेव ने कहा हे राजन्! ध्यान दें। स्वप्न का परमार्थ जानने के लिए यह वृत्तान्त सुनें। युग्मम् ॥

गाहा—

तओ।

अह अडवीए दिट्टो भिल्लवई, तेण जह य सप्पेहिं ।
बद्धो उ चित्तवेगो विमोइओ मणि-पभावाओ ॥७२॥
जह तेण नियय-चरिए सिट्ठे देवस्स आगमो आस ।
देवेण केवली अह दिट्टो य कुसग्गनयरम्मि ॥७३॥
जह भावि-भवं पुट्टो केवलिणा जह य तस्स आइट्टं ।
सिरि-अमरकेउ-रन्नो होहिसि पुत्तो तुमं भइ! ॥७४॥
जणणीइ समं तत्थ य अबहरिओ पुव्व-वेरिय-सुरेण ।
ता चित्तवेग! खयराहिवस्स गेहम्मि वड्ढिहिसि ॥७५॥

संस्कृत छाया—

ततः।

अथाऽटव्यां छटो भिल्लपतिस्तेन यथा च सर्पैः ।
बद्धस्तु चित्रवेगो विमोचितो मणिप्रभावात् ॥ ७२ ॥
यथा तेन निजकचरिते शिष्टे, देवस्याऽऽगम आसीत् ।
देवेन केवली अथ छटश्च कुशाग्रनगरे ॥ ७३ ॥
यथा भाविभवं पृष्टः केवलिना यथा च तस्मै आदिष्टम् ।
श्रीअमरकेतुराज्ञो भविष्यसि पुत्रस्त्वं भद्र ! ॥ ७४ ॥
जनन्या समं तत्र चापहतः पूर्ववैग्निपुरेण ।
तस्मात् चित्रवेग ! खचराधिपस्य गेहे वत्स्यसि ॥ ७५ ॥

गुजराती अनुवाद—

धनदेव द्वारा वृत्तान्त कथनः

७२-७५. हवे जंगलमां श्रीलपतिस जे रीते सर्पथी वीटलायेल चित्रवेगेन
मणिना प्रभावथी छोडाव्यो जेथी पोतानां चरित्रमां देवनुं आगमन जे रीते कह्युं—
अने देवे कुशाग्रनगरमां केवलज्ञानीने जोया अने भाविभाव पूछ्या...
केवलज्ञानी भगवन्ते तेने कह्युं के- 'भद्र! तुं अमरकेतु राजानो पुत्र थईश।
तथा पूर्वभवना वैरी देव वडे मातानी साथे अपहरण करायेलो हे चित्रवेग!
तुं विद्याधर अधिपतिना घरमां मोटो थईश...

हिन्दी अनुवाद—

जंगल में भीलपति ने जिस प्रकार सर्प दंश का उपचार मणि के प्रभाव से किया, जिस प्रकार अपने चरित्र में देव के आगमन को बताया और देव कुशाग्रनगर में केवलज्ञानी को देखकर हाल-चाल पूछा... केवली भगवन्त ने उन्हें बताया कि हे भद्र, 'तू अमरकेतु राजा का पुत्र होगा तथा पूर्वजन्म में वैरीदेव द्वारा मां के साथ अपहृत हे चित्रवेग? तू विद्याधर राजा के घर में बड़ा होगा।

गाहा—

एमाइ पुव्व-उत्तं सवित्थरं साहियं नर-वइस्स ।

धणदेवेणं जाव य संपत्तो हत्थिणपुरम्मि ॥७६॥

संस्कृत छाया—

एवमादि पूर्वोक्तं सविस्तरं कथितं नरपतेः ।

धनदेवेन यावच्च सम्प्राप्तो हस्तिनापुरे ॥ ७६ ॥

गुजराती अनुवाद—

७६. धनदेवे हस्तिनापुरमां आव्यो त्यांसुधीनो पूर्वोक्त वृत्तांत आ प्रमाणे विस्तारपूर्वक राजाने कह्यो.

हिन्दी अनुवाद—

धनदेव ने खुद के हस्तिनापुर में आने तक का समस्त वृत्तान्त इस प्रकार राजा को कहा।

गाहा—

ता देव! देवि-उदरे विहुप्पहो सो सुरो समुप्पन्नो ।

होही, जओ न केवल्लि-वयणं इह अन्नहा होइ ॥७७॥

संस्कृत छाया—

तस्मात् देव ! देव्युदरे विधुप्रभः स सुरः समुत्पन्नः ।

भविष्यति, यतो न केवल्लिवचनमिहाऽन्यथा भवति ॥ ७७ ॥

गुजराती अनुवाद—

७७. तेथी हे राजन्! महाराणीनी कुक्षिमां ते विद्युत्प्रभदेव उत्पन्न थयो हरो. कारण के केवलज्ञानीनुं वचन अन्यथा थतुं नथी।

हिन्दी अनुवाद—

इससे हे राजन्! ऐसा लगता है कि महारानी के गर्भ में वह विधुप्रभ देव उत्पन्न हुआ है क्योंकि केवलज्ञानी का वचन वृथा नहीं जाता।

गाहा—

पुव्व-विरुद्ध-सुरेणं हरिओ खयरस्स वड्ढिओ गेहे ।

साहिय-बहुविह-विज्जो मिलिही सो नियय-जणणीए ॥७८॥

संस्कृत छाया—

पूर्वविरुद्धसुरेण इतः खचरस्य वर्धितो गेहे ।

साधितबहुविधविद्यो मिलिष्यति स निजकजनन्याः ॥ ७८ ॥

गुजराती अनुवाद—

७८. पूर्वना वैरी देववडे अपहरण करायेलो विद्याधरनां आवासमां वधेलो, साधेली घणी-विद्यावालां ते पोतानी माताने मलये.

हिन्दी अनुवाद—

पूर्वजन्म के वैरी देव द्वारा अपहरण किया हुआ तथा विद्याधर आवास में पला-बड़ा तथा अनेक विद्याओं का साधक वह अपनी माता से मिलेगा।

गाहा—

इच्छिय-कन्नादानं मालाए पूयणांपि मन्ना सि ।

एसो नरिंद! सुविणय-परमत्थो फुरइ मह हियए ॥७९॥

संस्कृत छाया—

इच्छितकन्यादानं मालाया पूजनमपि मन्ये ।

एष नरेन्द्र ! स्वप्नपरमार्थस्फुरति मम हृदये ॥ ७९ ॥

गुजराती अनुवाद—

७९. हे नरेन्द्र! इच्छित कन्यादान-माला वडे पूजन शयुं सम हुं मानुं छुं आ प्रमाणे स्वप्न मारा हृदयमां स्फुरे छे.

हिन्दी अनुवाद—

हे नरेन्द्र! इच्छित कन्यादान का माला द्वारा पूजन हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ और इस प्रकार स्वप्न हमारे हृदय में स्फुरित हो रहे हैं।

गाहा-

एयं धणदेवस्स ओ वयणं सोऊण सुविणयन्नूहिं ।
भणियं अहो! अउव्वं एयस्स उ बुद्धि-कोसल्लं ॥८०॥

संस्कृत छाया-

एतद् धनदेवस्य ओ वचनं श्रुत्वा स्वप्नैः ।
भणितं अहो ! अपूर्वमेतस्य तु बुद्धिकौशल्यम् ॥ ८० ॥

गुजराती अनुवाद-

८०. (स्वप्नपाठकोणुं मंतव्य)- आ प्रमाणे धनदेवणुं वचन सांभलीने
स्वप्नपाठकोणु कहुं, खरेखर! आ धनदेवणुं बुद्धिकौशल्य अपूर्व छे.

हिन्दी अनुवाद-

धनदेव का यह वचन सुनकर स्वप्नपाठकों ने कहा इस धनदेव का बुद्धि
कौशल अपूर्व है।

गाहा-

सययं तल्लिच्छेहिवि बहु-सत्थ-वियक्खणेहिं अम्हेहिं ।
तव्विह-बुद्धि-विउत्तेहिं सक्कियं नो विणिच्छेउं ॥८१॥

संस्कृत छाया-

सततं तल्लिप्सैरपि बहुशास्त्रविचक्षणैरस्माभिः ।
तद्विधबुद्धिवियुक्तैश्शक्यं नो विनिश्चेतुम् ॥ ८१ ॥

गुजराती अनुवाद-

८१. अनेक शास्त्रोमां विचक्षण ते ते शास्त्रोमांज मन्न होवा छतां तेवा
प्रकारनी बुद्धिथी रहित अमाटा वडे आनो निश्चय करवो अशक्य छे.

हिन्दी अनुवाद-

अनेक शास्त्रों में विचक्षण, उन-उन शास्त्रों में मग्न होने पर भी उस प्रकार
की बुद्धि से रहित हमारे द्वारा यह निश्चय करना सम्भव नहीं है।

गाहा-

सुसिलिट्ठो नणु अत्थो निरूविओ राय! वणिय-उत्तेण ।
सव्वेसिं अम्हाणवि सुसंमओ चेव एसोत्ति ॥८२॥

संस्कृत छाया—

सुश्लिष्टो नन्वर्थो निरूपितो राजन् ! वणिजपुत्रेण ।

सर्वेषामस्माकमपि सुसम्मतश्चैवैष इति ॥ ८२ ॥

गुजराती अनुवाद—

८२. परंतु हे राजन्! वणिकपुत्र धनदेव वड़े आ स्वप्नो अर्थ सारी
रीते कहेवायो छे. अमने सर्वनि पण ते मान्य छे.

हिन्दी अनुवाद—

परन्तु हे राजन्! वणिक पुत्र धनदेव द्वारा इस स्वप्न का अर्थ ठीक प्रकार
से किया गया है, और यह हम सभी को मान्य है।

गाहा—

इय भणिए ते रन्ना तंबोल-पयाण-पुव्वयं सव्वे ।

पट्टविया तह सव्वे सामंत-महंतमाईया ॥ ८३ ॥

संस्कृत छाया—

इति भणिते ते राज्ञा ताम्बूलप्रदानपूर्वकं सर्वे ।

प्रस्थापिता तथा सर्वे सामन्तमहत्तमादिकाः ॥ ८३ ॥

गुजराती अनुवाद—

८३. आ प्रमाणे कहेवाये छते स्वप्न पाठको तथा सामंत-महंतादिओने
तंबोल-पानवीडुं आपवा पूर्वक राजास विदाय आपी.

हिन्दी अनुवाद—

ऐसा कहकर राजा ने सभी स्वप्नपाठकों तथा सामन्तों आदि को ताम्बूल अर्पण
कर विदा किया।

गाहा—

तत्तो रन्ना भणियं इणिहं धणदेव! किमिह कायव्वं ।

देवीइ समं अम्हं उवट्टिए दुसह-विरहम्मि ॥ ८४ ॥

संस्कृत छाया—

ततो राज्ञा भणितमिदानीं धनदेव ! किमिह कर्तव्यम् ।

देव्या समप्रस्माकमुपस्थिते दुःसहविरहे ॥ ८४ ॥

गुजराती अनुवाद—

८४. (राजाजी चिंतानो उपाय)–

हवे राजास कह्युं— हे धनदेव! देवीनी साथे अमारो दुःसह वियोग उपस्थित थये छते ते विषयमां शुं कएवुं जोइस.

हिन्दी अनुवाद—

तब राजा ने कहा 'हे धनदेव! रानी के साथ हमारा दुःसह वियोग उपस्थित हुआ है, इस विषय में क्या करना चाहिए?

गाहा—

किं एत्थ अत्थि कोवि हु पडिघाय-विही सुदुडु-सुविणस्स ।
भणियं धणदेवेणं न अन्नहा केवलि-गिरा ओ ॥८५॥

संस्कृत छाया—

किमत्राऽस्ति कोऽपि खलु प्रतिघातविधिः सुदुष्टस्वप्नस्य ।
भणितं धनदेवेन नान्यथा केवलिगिरा ओ ॥ ८५ ॥

गुजराती अनुवाद—

८५. आ अतिदुष्ट स्वप्नानां प्रतिघातनो कोइ पण उपाय अहीं छे, त्यारे धनदेवे कह्युं, 'केवलीभगवंतनुं वचन अन्यथा थनु नथी!

हिन्दी अनुवाद—

इस दुष्ट स्वप्न के प्रतिघात का क्या यहाँ कोई उपाय है? तब धनदेव ने कहा कि केवली भगवन्त का वचन अन्यथा नहीं होता।

गाहा—

तहवि हु एस उवाओ कीरइ मा होज्ज तेण पडिघाओ ।
मंचय-पडियाण पुणो तहट्टिया चेव भूमिन्ति ॥८६॥

संस्कृत छाया—

तथापि खल्वेष उपायः क्रियते मा भवेत्तेन प्रतिघातः ।
मञ्चकपतितानां पुनस्तथास्थिता एव भूमिरिति ॥ ८६ ॥ ।

गुजराती अनुवाद—

८६. छतां पण आ एक उपाय करी शकाय भले तेनाथी प्रतिघात पण थाय, कारण के मांचडा उपर थी पडेलाने भूमि ज आशरो छे.

हिन्दी अनुवाद—

फिर भी एक उपाय किया जा सकता है। भले ही उससे स्वप्न का प्रतिघात न हो, किन्तु मंच पर से गिरे हुए को भूमि का ही आसरा होता है।

गाहा—

पल्लीवइण्णा तइया दिव्व-मणी जो समप्पिओ मज्झ ।
सो एस अंगुलीयग-निवेशिओ चिट्ठउ करम्मि ॥८७॥
एसो अचिंत-सत्ती अणेय-ठाणेसु दिट्ठ-माहप्पो ।
ता एयं देवीए करट्ठियं देव! कारेह ॥८८॥

संस्कृत छाया—

पल्लीपतिना तदा दिव्यमणि-र्यः समर्पितो मम ।
स एष अङ्गुलीयकनिवेशितस्तिष्ठतु करे ॥ ८७ ॥
एषोऽचिन्त्यशक्तिरनेकस्थानेषु द्रष्टमाहात्म्यः ।
तस्मादेतं देव्याः करस्थितं देव ! कारयत ॥ ८८ ॥ युगम् ॥

गुजराती अनुवाद—

८७-८८. पल्लिपतिस त्याटे मने जे दिव्यमणि आप्यो हतो ते आ हाथना अंगुठाभां रहेलो छे. आ दिव्यमणि अचिन्त्य शक्तियुक्त छे, तेनो प्रभाव अन्य स्थानोभां जोवायो छे. तेथी हे देव! स दिव्यमणि महाराणीना हाथभां पहेरावो.. (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद—

पल्लिपति ने उस समय जो मणि दिया था वह हमारे हाथ के अंगूठे में है। यह दिव्य मणि अचिन्त्य शक्तियुक्त है। उसका प्रभाव अन्य स्थानों में देखा गया है। इसलिए हे देव! यह दिव्यमणि रानी को पहनाइए।

गाहा—

पुव्व-विरुद्धोवि सुरो हरणे देवीइ होज्ज असमत्थो ।
एयस्स पभावाओ, अह कहवि करिज्ज अवहरणं ॥८९॥
तहवि हु अवगारम्मी सक्कस्सइ नेव वट्ठिउं वइरी ॥
नाउं इमं नरेसर! मा सोगं किंचिवि करेह ॥९०॥

संस्कृत छाया—

पूर्वविरुद्धोऽपि सुरो हरणे देव्या भवेदसमर्थः ।

एतस्य प्रभावादथ कथमपि कुर्यादपहरणम् ॥ ८९ ॥

तथापि खल्वपकारे शक्यते नैव वर्तितुं वैरी ।

ज्ञात्वेदं नरेश्वर ! मा शोकं किञ्चिदपि कुरुत ॥ ९० ॥

गुजराती अनुवाद—

८९-९०. पूर्वनी शत्रुदेव पण आ दिव्यमणिना प्रभावथी महाराणीनु अपहरण करवा असमर्थ थशे. अे कदाच अपहरण करशे तो पण तेनी अपकार करवा ते वैरी समर्थ नहीं ज बने. आ जाणीने हे नरेश्वर! जरा पण शोक न करो...

हिन्दी अनुवाद—

पूर्व का शत्रुदेव भी दिव्य मणि के प्रभाव से महारानी का अपहरण करने में असमर्थ हो जायेगा। यदि कदाचित् अपहरण कर भी लिया तो उनका अपकार तो कर ही नहीं सकता। इसलिए यह जानकर हे राजा! आप शोक न करें।

गाहा—

अन्नं च ।

सुविण-पडिघायणत्थं कारेसु जिणालएसु महिमाओ ।

पूएसु समण-संघं तदुच्चिय-वत्थासणाईहिं ॥ ९१ ॥

संस्कृत छाया—

अन्यच्च ।

स्वप्नप्रतिघातार्थं कारय जिनालयेषु महिम्नः ।

पूजय श्रमणसङ्घं तदुचितवस्त्रासनादिभिः ॥ ९१ ॥

गुजराती अनुवाद—

९१. अने वली, स्वप्नना प्रतिघात माटे जिनालयोमां महोत्सव करावो, सुयोग्य वस्त्र आसनादि वडे श्रमण संघनो सत्कार करो.

हिन्दी अनुवाद—

स्वप्न के प्रतिघात के लिए अथवा स्वप्न का आपके जीवन पर कोई असर न पड़े, इसके लिए जिनमन्दिरों में महोत्सव और श्रमण संघ को सुयोग्य, वस्त्र आदि दान करें।

गाहा—

दावेसु अभय-दाणं विविहाभिग्गह-तवेसु उज्जमसु ।
एवं कयम्मि नर-वर! सव्वंपि हु सुंदरं होही ॥१२॥

संस्कृत छाया—

दापय अभयदानं विविधाऽभिग्रहतपस्सु उद्यच्छ ।
एवं कृते नरवर ! सर्वमपि खलु सुन्दरं भविष्यति ॥ १२ ॥

गुजराती अनुवाद—

१२. अभयदान आपो, विविध प्रकारणां अभिग्रह तथा तपसां उद्यम करी, आ प्रमाणे कराये छते हे नरपति! बधुं ज सुंदर थशे.

हिन्दी अनुवाद—

आप अभयदान दें। विभिन्न प्रकार के अभिग्रह पूर्वक तप करें। ऐसा करने से हे राजन्! सब कुछ अच्छा होगा।

गाहा—

इय भणिउं धणदेवो समप्पिउं अंगुलीययं निययं ।
पणामित्ता रायाणं विणिग्गओ राय- भवणाओ ॥१३॥

संस्कृत छाया—

इति भणित्वा धनदेवः समर्प्य अङ्गुलीयं निजम् ।
प्रणम्य राजानं विनिर्गतो राजभवनात् ॥ १३ ॥

गुजराती अनुवाद—

१३. आ प्रमाणे कहीने राजाने पोतानी अंगुठि समर्पित करीने, राजाने प्रणाम करीने धनदेव राजभवनथी पाछे फर्यो!

हिन्दी अनुवाद—

ऐसा कहकर राजा को अपनी अंगूठी समर्पित कर तथा राजा को प्रणाम कर धनदेव वापस राजभवन आ गया।

गाहा—

रत्तावि हुं गंतूणं देवी- भवणम्मि सयल-वुत्तंतो ।
सिद्धो समप्पियं तह देवीए अंगुलीयं तं ॥१४॥

संस्कृत छाया—

राज्ञापि खलु गत्वा देवीभवने सकलवृत्तान्तः।

शिष्टः समर्पितं तथा देव्यै अङ्गुलीयं तम् ॥ १४ ॥

गुजराती अनुवाद—

१४. राजाए पण महाराणीना भवनमां जई सकल वृत्तांत कहयो. तथा महाराणी ने ते अंगूठी आपी।

हिन्दी अनुवाद—

राजा ने महारानी के भवन में जाकर उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया और महारानी को वह अंगूठी दे दी।

गाहा—

भणिया य देवि! एयं खणंपि हत्थाओ नेव मोक्तव्यं ।

एयस्स पभावाओ पभवन्ति न खुद्द-सत्ताई ॥१५॥

संस्कृत छाया—

भणिता च देवि ! एतद् क्षणमपि हस्तानैव मोक्तव्यम् ।

एतस्य प्रभावात् प्रभवन्ति न क्षुद्रसत्त्वानि ॥ १५ ॥

गुजराती अनुवाद—

१५. अने राजाए कहयुं— हे देवि! आ अंगुठी क्षणवाए पण हाथमांथी काढवी नहीं, आ अंगुठीना प्रभावथी क्षुद्र प्राणीओ विगेरे उपद्रव करवा समर्थ नहीं छने.

हिन्दी अनुवाद—

राजा ने कहा, हे देवी! आप यह अंगूठी— एक क्षण के लिए भी हाथ से मत निकालिएगा। इस अंगूठी के प्रभाव से क्षुद्र प्राणी किसी प्रकार का उपद्रव करने में सफल नहीं होंगे।

गाहा—

जिण-मंदिर-जत्ताइं कारवियं तमहि राइणा सव्वं ।

कमलावईवि ततो जाया आवन्न-सत्तत्ति ॥१६॥

संस्कृत छाया—

जिनमन्दिरयात्राणि कारापितं तदा राज्ञा सर्वम् ।

कमलावत्यपि ततो जाताऽऽपन्नसत्त्वेति ॥ ९६ ॥

गुजराती अनुवाद—

९६. कमलावतीनुं गर्भधारण तथा दोहद (गर्भिणी स्त्री क्रमनोरथ) -
त्यारबाद राजार जिनमंदिरामां यात्रा विगेरे सर्व अनुष्ठान कराव्या,
त्यारबाद कमलावती पण गर्भवती थई—

हिन्दी अनुवाद—

उसके बाद राजा ने जिनमन्दिर में यात्रा आदि सभी अनुष्ठान कराया। उसके बाद कमलावती भी गर्भवती हो गयी।

गाहा—

सुह-संपडंत-हिय-इडु-वत्थु-सुविणीय-परियण-जुयाए ।

अह सत्तमम्मि मासे जाओ देवीए दोहलओ ॥ ९७ ॥

संस्कृत छाया—

सुखसम्पद्दहदयेष्टवस्तुसुविनीतपरिजनयुतायाः ।

अथ सप्तमे मासे जातो देव्या दोहदकः ॥ ९७ ॥

गुजराती अनुवाद—

९७. सुखपूर्वक प्राप्तथती हितकायी इष्ट वस्तु तथा विनीत परिवार
थी युक्त महाराणीने हवे सातमे महिने दोहद थयो.

हिन्दी अनुवाद—

सुखपूर्वक सभी इच्छित वस्तुओं तथा विनीत परिवार के साथ रहती हुई रानी को सातवें महीने में दोहद हुआ।

गाहा—

लज्जाए तं कस्सवि जाहे न कहेइ ताव कइयावि ।

परिहायंत-सरीरा दिट्ठा रत्ता इमं भणिया ॥ ९८ ॥

संस्कृत छाया—

लज्जया तं कस्याऽपि यदा न कथयति तावत् कदाऽपि ।

परिहीयमानशरीरा छटा राज्ञेदं भणिता ॥ ९८ ॥

गुजराती अनुवाद—

१८. पण लज्जाथी राणी कोई ने कइं पण कहेती नथी त्यारे क्यासेक
सुकाता शरीरवाली तेने जोईने राजास कह्युं...

हिन्दी अनुवाद—

किन्तु शर्म के मारे रानी ने इस बात को किसी से नहीं बताया। फिर सूख
रहे शरीर वाली रानी को देखकर राजा ने कहा—

गाहा—

देवि! तुह किं न पुज्जइ दीससि अइदुब्बला जओ इण्हं ।
देवीए तो भणियं दोहलओ एस मे नाह! ॥ १९ ॥

संस्कृत छाया—

देवि ! तव किं न पूर्यते ह्ययसेऽतिदुर्बला यत इदानीम् ।
देव्या ततो भणितं दोहदक एष मम नाथ ! ॥ १९ ॥

गुजराती अनुवाद—

१९. हे देवि! शुं ताची ईच्छा पूर्ण थती नथी. के जेथी हमणां तु अति
दुबली देखाय छे? त्यारे महाराणीस कह्युं 'हे नाथ! मने दोहद उत्पन्न थयो छे.

हिन्दी अनुवाद—

हे देवि! क्या आपकी इच्छा पूर्ण नहीं हो रही है जिससे कि आप अत्यन्त
दुर्बल दीख रही हो। तब महारानी ने कहा, हे नाथ! मुझे दोहद उत्पन्न हुआ है।

गाहा—

वर-वारणमारूढा दाणं दिंती य अत्थि-लोयस्स ।
तुह-उच्छंग-निविट्ठा तुमए छत्तं धरंतेणं ॥ १०० ॥
हिंडामि राय! नयरे परियरिया सयल-भिच्च-वग्गेण।
रत्ना भणियं सुंदरि! कीरइ अहुणा दुयं एयं ॥ १०१ ॥
अह पवर-पट्ट-हत्थी सिंगारिय आणिओ निउत्तेहिं ।
तत्थारूढो राया देवी उण तस्स उच्छंगे ॥ १०२ ॥

संस्कृत छाया—

वरवारणमारूढा दानं ददती चार्थिलोकस्य ।
तवोत्सङ्गनिविष्टा त्वया छत्रं धारयता ॥ १०० ॥

हिण्डे राजन् ! नगरे परिवृत्ता सकलभृत्यवर्गेण ।

राज्ञा भणितं सुन्दरि ! क्रियते अधुना द्रुतमेतद् ॥१०१॥ युग्मम् ।

अथ प्रवरपट्टहस्ती श्रृङ्गारयित्वाऽऽनीतो नियुक्तैः ।

तत्राऽऽरूढो राजा देवी पुनस्तस्योत्सङ्गे ॥ १०२ ॥

गुजराती अनुवाद—

१०-१०२. श्रेष्ठ हाथी उपर बेठेली, याचक वर्गनि दान आपती, तमाटा खोलामां बेठेली, सवी मने तमे छत्र धारण करता हो ते चीते हे राजन्! समस्त चाकर समुदायथी परिवरेली हुं नगरमां फछं... त्यारे राजास कह्युं हे सुन्दरि! हमणा शीघ्र आ कराशे।

हिन्दी अनुवाद—

श्रेष्ठ हाथी पर बैठी हुई, याचक वर्ग को दान देती हुई, आपकी गोद में बैठी हुई आप मेरे लिए छत्र धारण किये हो, इस प्रकार हे राजन्! मैं समस्त सेवक समुदाय के साथ नगर में फिरूं ऐसा दोहद उत्पन्न हुआ है। तब राजा ने कहा, 'हे सुन्दरी! यह मैं शीघ्र ही करवाऊंगा।

गाहा—

उवरि धवलायवत्तं मुत्ताहल-रेहिरं सयं रत्ना ।

धरियं ततो विविहं पढंत-थुइ-पाढ-निवहेण ॥१०३॥

तुरेसु रसंतेसु वज्जंतेसु य असंख संखेसु ।

कलपाणएहिं विहिए वियंभमाणे य संगीए ॥१०४॥

अत्थि-जण-पूरियासं दाणं देंता समत्थ-नयरम्मि ।

आणंद-निम्भराहिं थुव्वंता नयर-नारीहिं ॥१०५॥

आहिंडिऊण विविहं चउक्क-तिय-चच्चरेसु इच्छाए ।

अह पुर-वराउ बाहिं नीहरिओ कुंजरो कमसो ॥१०६॥

संस्कृत छाया—

उपरि धवलायवत्तं मुक्ताफलराजमानं स्वयं राज्ञा ।

धृतं ततो विविधं पठ्यमानस्तुतिपाठनिवहेन ॥ १०३ ॥

तूर्येषु रसत्सु वाद्यमानेषु चाऽसंख्यसंख्येषु ।

कलपानकैर्विहिते विजृम्भमाणे च सङ्गीते ॥ १०४ ॥

अर्थिजनपुरिताशं दानं ददती समस्तनगरे ।

आनन्दनिर्भराभिः स्तूयमाना नगरनारीभिः ॥ १०५ ॥

आहिण्ड्य विविधं चतुष्कत्रिकचत्वरेष्विच्छया ।

अथ पुरवराद् बहिर्निःसृतः कुञ्जरः क्रमशः ॥ १०६ ॥

चतसृभिः कलापकम्

गुजराती अनुवाद—

१०३-१०६. (राणीना दोहदनी पूर्ति) रानी के दोहद की पूर्ति -

हवे नियुक्त पुरुषो वड़े शणगाट सजीने श्रेष्ठ पट्टहस्ती लवायो. ते हाथी पर राजा आरूढ थया, अने महाराणी राजानां खोलाभां बेठी, राणीनी ऊपर मुक्ताफल थी शोभतुं श्वेत आतपत्र स्वयं राजारु धारण कर्युं. त्यारुद्वाद स्तुति पाठकोनो समुदाय जयजयकार करतो हतो। हाथी विविध मार्गोथी पसारथतो नगर बहार निकल्यो।

हिन्दी अनुवाद—

सभी नियुक्त पुरुषों ने सज-धज कर श्रेष्ठ पट्ट हाथी को लियां, राजा उस हाथी पर आरूढ़ हुए और महारानी उनकी गोद में बैठीं। रानी के ऊपर मोतियों से शोभित छत्र राजा ने धारण किया। उसके पश्चात् स्तुति पाठक जय-जयकार कर रहे थे। हाथी विविध मार्गों से फिरता हुआ नगर के बाहर निकला।

गाथा—

सहसच्चिव्य उम्मिद्धो विच्छोलिंतो समत्थ-जण-नियरं ।

अइवेगेण पयट्टो इसाण-दिसा-मुहो ताए ॥ १०७ ॥

संस्कृत छाया—

सहसैव निरङ्कुश (उम्मिद्धो) कम्पयन् समस्तजननिकरम् ।

अतिवेगेन प्रवृत्तः ईशानदिग्मुखस्तदाः ॥ १०७ ॥

गुजराती अनुवाद—

१०७. (गजराजनो उपद्रव)—

अने ओचीतो गांडो थई गयेलो ते हाथी सम्मस्त जन समूहने कंपावतो, ईशान दिशा तरफ त्याटे अतिवेग वड़े चाल्यो.

हिन्दी अनुवाद— (गजराज का उपद्रव)

अचानक पागल हो गया वह हाथी सम्स्त जनसमूह को कम्पायमान करता हुआ ईशान दिशा की तरफ अतिवेग से बढ़ा।

गाहा—

रे! लेह लेह, धावह एस गओ एस जाइ पुरओत्ति ।
एमाइ वाहरंतो भिच्च-जणो धाइ पट्टीए ॥१०८॥

संस्कृत छाया—

रे! लात लात धावत एष गज एष याति पुरत इति ।
एवमादि व्याहरन् भृत्यजनो धावति पृष्ठे ॥ १०८ ॥

गुजराती अनुवाद—

१०८. अरे! अरे! लो...लो... दोड़े...दोड़े...आ हाथी पासे आवी रह्यो
छे. इत्यादि चोलतो नोकटवर्ग पाछल दोड़े छे.

हिन्दी अनुवाद—

अरे! अरे! लो दौड़ो। वह हाथी पास आ रहा है, यह कहता नौकरवर्ग पीछे
की तरफ दौड़ा।

गाहा—

रायावि हु जाहि कहवि हु धरिउं व चएइ करि-वरं तं तु ।
ताहे भणिया देवी एस गओ ताव उम्मिट्टो ॥१०९॥
अइवेगओ पयट्टो चाइज्जइ कहवि नो नियत्तेउं ।
ता उत्तरिमो कहवि हु इयरह अडवीए पाडेही ॥११०॥

संस्कृत छाया—

राजाऽपि खलु यदा कथमपि खलु धर्तुं न शक्नोति करिवरं तन्तु ।
तदा भणिता देवी एष गजस्तावन्निरङ्कुशः ॥ १०९ ॥
अतिवेगतः प्रवृत्तः शक्यते कथमपि न निवर्त्तितुम् ।
तस्मादुत्तरावः कथमपि खल्वितरथाऽटव्यां पातयिष्यति ॥११०॥

गुजराती अनुवाद—

१०९-११०. राजा पण केमे कचीने आ श्रेष्ठ हाथीने वश करवा समर्थ
न थयो त्यारे देवीने कह्युं. आ हाथी उम्भत्त थयो छे. अतिवेगवालो थयेलो
ते केमे कचीने चोकवो शक्य नथी. तेथी कोई पण चीते हाथी परथी उतरी
जइस अन्यथा आपणने जंगमां पाडशे.

हिन्दी अनुवाद—

राजा भी सब प्रयास कर उस श्रेष्ठ हाथी को वश में करने में समर्थ नहीं हो सके। देवी ने कहा यह हाथी उन्मत्त हो गया है, इस अतिवेग वाले हाथी को रोकना सम्भव नहीं है। इसलिए हमें किसी प्रकार हाथी से नीचे उतरना चाहिए, नहीं तो हम स्वयं परेशानी में पड़ जायेंगे।

गाहा—

कमलावईए भणियं ओयरियव्वं कहं नु नर-नाह! ।

रत्ता भणियं निसुणसु पिच्छसि वड-पायवं पुरओ ॥ १११ ॥

एयस्स य हेट्टेणं जाही हत्थी तओ तुमे देवि! ।

साहाए लग्गिअव्वं सहसा हत्थिं पमोत्तुण ॥ ११२ ॥

संस्कृत छाया—

कमलावत्या भणितमवतरितव्यं कथन् नरनाथ ! ।

राज्ञा भणितं निश्रुणु प्रेक्षसे वटपादपं पुरतः ॥ १११ ॥

एतस्य चाऽधः यास्यति हस्ती ततस्त्वया देवि ।

शाखायां लगितव्यं सहसा हस्तिनं प्रमुच्य ॥ ११२ ॥

गुजराती अनुवाद—

१११-११२. राणी कमलावतीए कह्युं— हे राजन्! केवी चीते उतएवुं? त्यारे राजाए कह्यु-सांभल! आगल वटवृक्ष देखाय छे. हे देवि! ते वृक्षनी नीचेथी हाथी पसाए थशे ज्यारे एकदम हाथीने छोड़ीने डाली पकडी लेवी।

हिन्दी अनुवाद—

रानी कमलावती ने कहा हे राजन! मैं किस प्रकार उतरूं? राजा ने कहा सुनो। आगे बरगद का पेड़ दिख रहा है ज्योंही हाथी पेड़ के नीचे से गुजरे, हाथी को छोड़कर पेड़ की डाली को पकड़ लेना।

गाहा—

एवं च जाव राया देविं उल्लवइ ताव सो हत्थी ।

अइवेगेणं पत्तो वड-वायव-हिट्ठ-भूभागे ॥ ११३ ॥

संस्कृत छाया—

एवं च यावद्राजा देवीमुल्लपति तावत् स हस्ती ।

अतिवेगेन प्राप्तो वटपादपाधोभूभागे ॥ ११३ ॥

गुजराती अनुवाद—

११३. आ प्रभाणे राजा महाराणीने ज्यां कहे छे त्यां तो ते हाथी अतिशय वेगपूर्वक वटवृक्षनी नीचे आवी गयो.

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार राजा ने रानी से जैसा कहा था, अतिशय वेगपूर्वक चलता वह हाथी उस बरगद के पेड़ के नीचे आ गया।

गाहा—

दक्खत्तणओ राया झत्ति विलग्गो य तस्स साहाए ।

लग्गसु लग्गसु देवि! झत्ति एयं भणेमाणो ॥ ११४ ॥

संस्कृत छाया—

दक्षत्वतो राजा झटिति विलग्नश्च तस्य शाखायाम् ।

लग लग देवि ! झटिति एतद् भणन् ॥ ११४ ॥

गुजराती अनुवाद—

११४. हे देवि! जल्दी शाखा पकड़ी लो...पकड़ी लो...सम् बोलतो चतुसईथी राजा शीघ्र ते झाडनी शाखाने वलगी गयो.

हिन्दी अनुवाद—

हे देवी जल्दी शाखा पकड़ लो, ऐसा कहकर राजा ने चतुराई से पेड़ की शाखा को पकड़ लिया।

गाहा—

अइवेगओ करिस्सा (स्स?) अदक्खयाए य इत्थि-भावस्स ।

गठभस्स य गरुयत्ता भय-वेविरओ सरीरस्स ॥ ११५ ॥

कय-अज्झवसायावि हु न सक्किया जाहि तत्थ लग्गेउं ।

ताहे य करि-वरो सो झडत्ति ततो अवक्कंतो ॥ ११६ ॥

संस्कृत छाया—

अतिवेगतः करिणोऽदक्षतया स्त्रीभावस्य ।

गर्भस्य च गुरुत्वात् भयवेपमानतश्शरीरस्य ॥ ११५ ॥

कृताऽध्यवसायाऽपि खलु न शक्या यदा तत्र लगितुम् ।

तदा च करिवरः स झटिति ततोऽपक्रान्तः ॥ ११६ ॥ युग्मम् ॥

गुजराती अनुवाद—

११५-११६. राणी हाथीना अतिवेगने कारणे, चतुराइनो अभाव, स्त्री सहज स्वभाव, गर्भनी गुरुता तथा शरीरमां भयने कारणे कंप होवाथी अध्यवसाय कर्यो होवा छता ते शाखाने पकडवा ज्यारे समर्थ न बनी अने ते हाथी तो झडप थी त्यांथी पसार थई गयो!

हिन्दी अनुवाद—

रानी हाथी के अतिवेग के कारण चतुराई के अभाव, स्त्री सहज स्वभाव, गर्भ की गुरुता तथा शरीर भय के कारण कंपने के कारण चाह कर भी शाखा पकड़ने में समर्थ नहीं हो सकीं और हाथी जल्दी से वहाँ से चला गया।

गाथा—

अह गुरु-सोगो राया तहदृठिओ जा तओ पंलोएइ ।
ता पिच्छइ गयणेणं जंतं बेगेण तं करिणं ॥ ११७ ॥

संस्कृत छाया—

अथ गुरुशोको राजा तथास्थितो यावत्ततः प्रलोकते ।
तावत् प्रेक्षते गगनेन यान्तं वेगेन तं करिणम् ॥ ११७ ॥

गुजराती अनुवाद—

११७. हवे त्यां रहेलो शोकातुट राजा त्यांथी ज्यां नजर करे छे त्यां तो आकाशमार्गे जतां ते गजराजने जोयो...

हिन्दी अनुवाद—

तब शोकाकुल राजा ने जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी आकाश मार्ग से जाते हुए हाथी को देखा।

गाथा—

अह विम्हिओ मणेणं चिंतइ राया अहो! महच्छरियं ।
मोतुं भूमि-पयारं वच्चइ हत्थी नह-यलेण ॥ ११८ ॥

संस्कृत छाया—

अथ विस्मितो मनसा चिन्तयति राजा अहो ! महदाश्चर्यम् ।
मुक्त्वा भूमिप्रचारं व्रजति हस्ती नभस्तलेन ॥ ११८ ॥

गुजराती अनुवाद—

११८. हवे आश्चर्य पामेलो राजा मनमां विचारे छे. अरे! महान् आश्चर्य!
भूमि उपर चालवानुं छोडीने हाथी आकाशमार्गे चाले छे.

हिन्दी अनुवाद—

आश्चर्यचकित राजा विचार करता है कि अरे यह तो महान आश्चर्य है कि
भूमि पर चलने वाला हाथी भूमि को छोड़कर आकाश मार्ग से जा रहा है।

गाहा—

अहवा।

पुव्व-विरुद्ध-सुरो सो विलसइ नूणं इमेण रूवेण ।

न हु केवलिणा भणिया भावा इह अन्नहा होंति ॥११९॥

संस्कृत छाया—

अथवा !

पूर्वविरुद्धसुरः स विलसति नूनमनेन रूपेण ।

न खलु केवलिना भणिता भावा इहाऽन्यथा भवन्ति ॥११९॥

गुजराती अनुवाद—

११९. (देवमाया टाणीनुं अपहरण)–

अथवा तो पूर्वजो वैरी देव आ रूप वड़े विलास करतो लागे छे, खरेखर
केवलिभगवंते कहेला भावो अहीं अन्यथा थता नथी!

हिन्दी अनुवाद—

अथवा तो पूर्व का बैरी देव इस रूप में विलास कर रहा है। सच. कहे तो
केवली भगवंत का कहा गया भाव अन्यथा नहीं होता।

गाहा—

एवं विचिंतयंतस्स तस्स, हत्थी अदंसणीभूओ ।

ताव अणु-मग्ग-लग्गं रन्नो सिन्नं समणुपत्तं ॥१२०॥

संस्कृत छाया—

एवं विचिन्तयतः तस्य हस्त्यदर्शनीभूतः ।

तावदनुमार्गलग्नं राज्ञः सैन्यं समनुप्राप्तम् ॥ १२० ॥

गुजराती अनुवाद—

१२०. राजा आ प्रमाणे चिंतवता हता त्यांतो हाथी अदृश्य थई गयो.
तेटलीवारमां पाछळ र्हेलुं राजानुं सैन्य मली गयुं.

हिन्दी अनुवाद—

राजा इस प्रकार चिन्ता कर ही रहा था कि हाथी वहाँ से अदृश्य हो गया।
इतनी देर में पीछे रहे हुए राजा के सैनिक भी वहाँ आ पहुँचे।

गाहा—

अह करि-वर-मग्गेणं समरप्पिय-पमुह-सुहड-सय-कलियं ।
देवी-गवेसणात्थं पट्टुविउं साहणं राया ॥ १२१ ॥
कहकहवि गरुय-सोओ सामंत-महंतगाण वयणेण ।
पत्तो निय-नयरम्मी सुन्नो वुन्नो निराणंदो ॥ १२२ ॥

संस्कृत छाया—

अथ करिवरमार्गेण समरप्रियप्रमुखसुभटशतकलितम् ।
देवीगवेषणार्थं प्रस्थाप्य साधनं राजा ॥ १२१ ॥
कथंकथमपि गुरुशोकः सामन्तमहत्तमानां वचनेन ।
प्राप्तो निजनगरे शून्य उद्विग्नो निरानन्दः ॥ १२२ ॥ युग्मम् ॥

गुजराती अनुवाद—

१२१-१२२. हवे हाथीना मार्गे राणीने शोधवा माटे सम्बरप्रिय विगेरे
सो सुभट सहित सैन्यने भोकलीने गुरु शोकवालो, शून्य मनस्क, उद्विग्न
तथा आनंद रहित राजा सामंत तथा महंतोना वचनवडे केमे करीने पोतानां
नगरमां आव्यो! (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद—

अब हाथी के जाने वाले मार्ग पर रानी की तलाश के लिए समरप्रिय सुभट
से युक्त सैनिकों को भेजकर शोकयुक्त, अन्यमनस्क, उद्विग्न तथा आनन्द रहित राजा
सामंत तथा महन्तों के अनुसार अपने नगर में आया।

गाहा—

परिचत्त-रज्ज-चित्तो चिट्ठइ जा कइवि तत्थ दिवसाणि ।
कमलावइ-संपावण-आसाए धरिय-निय-जीओ ॥ १२३ ॥

ता अन्न-दिणे सिन्नं समरप्पिय-समुहमागयं सहसा ।
दीणं विमणं खिन्नं लज्जा-विमणंत-मुह-कमलं ॥१२४॥

संस्कृत छाया-

परित्यक्तराज्यचित्तस्तिष्ठति यावत् कत्यपि तत्र दिवसानि ।
कमलावतीसम्प्रापणाऽऽशया धृतनिजजीवितः ॥ १२३ ॥
तस्मादन्यदिने सैन्यं समरप्रियप्रमुखमागतं सहसा ।
दीनं विमनः खिन्नं लज्जाविनतमुखकमलम् ॥१२४॥युग्मम् ॥

गुजराती अनुवाद-

१२३-१२४. (महाराणीनी शोध छातां अप्राप्ति)-

राज्यने विषे विमनस्क, कमलावती राणीने प्राप्तिनी आशा वडे पोताना
जीवने धारण करतो राजा केटलां दिवस त्यां रहयो, त्यां एक दिवस ओचींतु
दीन, विमन, खेद पाभेलु, तथा लज्जाथी नमेलानं मुखकमलवालुं समरप्रियनी
मुख्यतावालुं, सैन्य आवी गयुं... (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद-

कमला रानी मिलेगी, ऐसी आशा में जीवित राज्य के विषय में अन्यमनस्क
राजा कुछ दिनों तक वहाँ रहे। तभी एक दिन अचानक वहाँ दीन, बिना मन के,
दुःखी तथा लज्जा से झुके मुखकमल वाला समरप्रिय प्रमुख सैनिक आया..(युग्मम्)

गाहा-

अह रन्ना आपुडो समरप्पिओ कहसु भद्र! वृत्तंतं ।
किं दिट्टो दुट्ट-करी देवीवि विमोइया ततो? ॥१२५॥

संस्कृत छाया-

अथ राज्ञाऽऽपृष्टः समरप्रियः कथय भद्र ! वृत्तान्तम् ।
किं दृष्टो दुष्टकरी देव्यपि विमोचिता ततः ? ॥ १२५ ॥

गुजराती अनुवाद-

१२५. त्याचे राजास समरप्रियने पूछयुं 'हे भद्र! वृत्तांत जणाव शुं दुष्ट
हाथी जोवायो? ते हाथी पासेथी देवी ने छेडावी?...

हिन्दी अनुवाद-

तब राजा ने समरप्रिय से पूछा क्या वह दुष्ट हाथी मिला? उस हाथी के
पास से देवी को छुड़ाया क्या?

गाहा—

दीहं नीससिऊणं भणियं समरप्पिएण सुण देव ! ।

करि-वर-दिसा-पयट्टा पत्ता अडवीइ ता अम्हे ॥ १२६ ॥

संस्कृत छाया—

दीर्घं निश्चस्य भणितं समरप्रियेण शृणु देव ! ।

करिवरदिकप्रवृत्ताः प्राप्ता अटव्यां तस्माद् वयम् ॥ १२६ ॥

गुजराती अनुवाद—

१२६. दीर्घ निःसासो नाखीने समरप्रिये कह्युं— हे देव! सांभलो, हाथीनी दिशायां जतां अमे जंगलमां पहाँच्या.

हिन्दी अनुवाद—

लम्बी सांस लेकर समरप्रिय ने कहा, 'हे देव! सुनिए, हाथी की दिशा में जाते हुए हम जंगल में पहुँचे।

गाहा—

तत्थ य बहु-प्पयारं गवेसमाणेहिं देव! अम्हेहिं ।

दिट्ठो न सो करि-वरो नेव य देवी न य पउत्ती ॥ १२७ ॥

संस्कृत छाया—

तत्र च बहुप्रकारं गवेषयमाणै-र्देव ! अस्माभिः ।

दृष्टो न स करिवरो नैव च देवी न च प्रवृत्तिः ॥ १२७ ॥

गुजराती अनुवाद—

१२७. त्यां अनेक प्रकारे शोध करतां पण हे राजन्! अमाचा वडे ते हाथी जोवायो नथी के नथी जोवाई देवी प्राप्ति माटे कोई प्रवृत्ति पण जोवाई नथी.

हिन्दी अनुवाद—

वहाँ अनेक प्रकार से खोजने पर भी वह हाथी नहीं मिला और देवी भी नहीं मिली। उनकी किसी प्रवृत्ति के विषय में कुछ भी पता नहीं चला।

गाहा—

अवरावव-सवर-गणं पुच्छंताणं सुदूर-पत्ताणं ।

अह अन्न-दिणे कहियं कप्पडिय-नरेण एक्केण ॥ १२८ ॥

संस्कृत छाया—

अपरापरशबरगणं पृच्छतां सुदूरप्राप्तानाम् ।

अथाऽन्यदिने कथितं कार्पटिकनरेणैकेन ॥ १२८ ॥

गुजराती अनुवाद—

१२८. परस्पद भीलना समुदायने पूछतां-पूछतां दूर पहींची गयेला
अमने कोइ दिवसे एक कार्पटिक नरे कह्युं...

हिन्दी अनुवाद—

आपस में भील लोगों से पूछते-पूछते हम काफी दूर निकल गये तभी एक
दिन एक कार्पटिक हमें मिला। उसने हमें बताया—

गाहा—

ततो सत्तम-दिवसे पउमोयर-नामए सर-वरम्मि ।

गयणाउ निवडमाणो महिला-सहिओ करी दिट्ठो ॥ १२९ ॥

संस्कृत छाया—

ततः सप्तमदिवसे पद्मोदरनाम्नि सरोवरे ।

गगनाद् निपतन्महिलासहितः करी दृष्टः ॥ १२९ ॥

गुजराती अनुवाद—

१२९. 'सात दिवस पहेलां पद्मोदर नामना सरोवरमांआकाशमांथी
पडला स्त्री सहित हाथीने जोयो हतो.

हिन्दी अनुवाद—

हमने सात दिन पहले पद्मोदर नामक तालाब में आकाश से गिरते हुए एक
स्त्री और हाथी को देखा था।

गाहा—

ततो भय-भीएणं दूर-ट्टिय-गुविल-तरु पविट्ठेण ।

नारी-रहिओ पुणरवि पलोइओ तत्थ हत्थित्ति ॥ १३० ॥

वियरंतो सर-तीरे, इय तस्स ओ वयणयं सुणेऊण ।

भणियं दंससु भइय! तं सिग्घं सर-वरं अम्ह ॥ १३१ ॥

संस्कृत छाया—

ततो भयभीतेन दूरस्थितगुपिलतरुप्रविष्टेन ।

नारीरहितः पुनरपि प्रलोकितस्तत्र हस्तीति ॥ १३० ॥

विचर्रस्सरःतीरे, इति तस्य ओ वचनं श्रुत्वा ।

भणितं दर्शय भद्रक ! तत् शीघ्रं सरोवरमस्माकम् । १३१ । युग्मम्

गुजराती अनुवाद—

१३०-१३१. त्याएवाद् डरना मार्या दूट रहेल वृक्षमां छुपाईने रहेल अमे फटी स्त्रीरहित हाथी ने त्यां सरोवरने किनारे फरतो जोयो, आ प्रमाणे तेना वचन सांभलीने अमे कह्युं 'हे भद्र! जल्दी अमने ते सरोवर बत्ताव! (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद—

उसके बाद डर के मारे पेड़ों की आड़ में छुपकर मैंने फिर स्त्री रहित हाथी को उस तालाब के किनारे टहलते हुए देखा। ऐसा सुनकर हमने शीघ्र वह तालाब कहां है? बताने को कहा।

गाहा—

अह तेण दंसियं तं पलोइयं सर-वरं समं तेण ।

न य उवलब्धा देवी निउणंपि गवेसमाणेहिं ॥ १३२ ॥

संस्कृत छाया—

अथ तेन दर्शितं तत् प्रलोकितं सरोवरं समं तेन ।

न चोपलब्धा देवी निपुणमपि गवेषयमाणैः ॥ १३२ ॥

गुजराती अनुवाद—

१३२. पछी ते कार्पाटिके बत्तावेल सरोवर तेनी साथे जोयुं, खूब साटी चीते शोधखोल करवा छतां महाटाणीनी प्राप्ति न थी!

हिन्दी अनुवाद—

फिर उस यात्री के बताने के अनुसार हमने उसके साथ उस तालाब को देखा! किन्तु अच्छी प्रकार से खोजने पर भी महारानी कहीं नहीं मिलीं।

गाहा—

सर-वर-जोयण-मित्ते विउत्त-पुरिसेहिं पाविओ हत्थी ।

तं धितुं निराणंदा इहागया देव-मूलम्मि ॥ १३३ ॥

संस्कृत छाया—

सरोवरयोजनमात्रे वियुक्तपुरुषैः प्राप्तो हस्ती ।

तं गृहीत्वा निरानन्दा इहाऽऽगता देवमूले ॥ १३३ ॥

गुजराती अनुवाद—

१३३. शोधवा गयेल पुरुषोने सरोवरना सक योजन मान्विस्तारमां हाथी मली गयो तेने लइने आनंद विनाना अमे आपनी पासे अहीं आव्या छीस।

हिन्दी अनुवाद—

तलाश करने गए व्यक्तियों को तालाब के एक योजन विस्तार में हार्थी मिल गया उसे लेकर हम आनन्द रहित आपके पास आये हैं।

गाहा—

ता किं तत्थेव सरे गभीर-नीरम्मि उवरया देवी ।

अह तत्तो उत्तरिउं पत्ता उ कहिंपि वसिमम्मि? ।। १३४।।

संस्कृत छाया—

तस्मात्किं तत्रैव सरसि गभीरनीरे उपरता देवी ।

अथ तत उतीर्य प्राप्ता तु कस्मिन्नपि वसतौ ? ।। १३४ ।।

गुजराती अनुवाद—

१३४. तेथी शुं ते ज सरोवरना उंडा पाणीमां देवी सम्राई गया हशे? (मृत्यु पाभ्या हशे) अथवा तो त्यांथी उतरीने कोई वसतिमां गया हशे?

हिन्दी अनुवाद—

इसलिए ऐसा लगता है कि उस सरोवर के पानी में या तो देवी समा गयी हैं (मृत्यु को प्राप्त कर चुकी हैं) या वहाँ उतर कर किसी गाँव में चली गयी हैं?

गाहा—

अहवा सावय-पउरे वणम्मि केणवि विणसिया होज्ज ।

न य जाणामो किंचिवि नरिंद! देवीए वुत्तंतं ।। १३५।।

संस्कृत छाया—

अथवा श्रापदप्रचुरे वने केनाऽपि विनाशिता भवेत् ।

न च जानीमः किञ्चिदपि नरेन्द्र ! देव्या वृत्तान्तम् ।। १३५ ।।

गुजराती अनुवाद—

१३५. अथवा तो घणाजंगली पशुओथी युक्त वनमां कोइस मारी नांख्या हशे. हे नरेन्द्र! देवीनो बीजो कोई वृत्तांत अमे जाणता नथी.

हिन्दी अनुवाद—

या इन जानवरों से भरे जंगल में कोई उन्हें मार डाला हो। हे राजन्! देवी का अन्य कोई वृत्तान्त हमें ज्ञात नहीं है।

गाथा—

एवं च जाव जंपइ समरप्पिओ पत्थिवस्स से पुरओ ।

ताव य दार-निउत्तो कय-विणओ एवमुल्लवइ ॥ १३६ ॥

संस्कृत छाया—

एवञ्च यावज्जल्पति समरप्रियः पार्थिवस्य तस्य पुरतः ।

तावच्च द्वारनियुक्तः कृतविनय एवमुल्लपति ॥ १३६ ॥

गुजराती अनुवाद—

१३६. आ प्रमाणे समरप्रिय भट ते राजानी आगल ज्यां वात करे छे त्यां तो करेलाविनयवालो द्वारपाल आ प्रमाणे चोले छे.

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार समरप्रिय भट उस राजा के आगे जहाँ बात कर रहा था, वहाँ-विनयपूर्वक अभिवादन करता हुआ द्वारपाल आकर राजा से बोला।

सुमति नाम के ज्योतिषी का आगमनः

गाथा—

दारम्मि सुमइ-नामो नेमिती चिड्डइत्ति सुणिऊण ।

भणियं रत्ता किं भो! सो एसो सुमइ-नेमिती? ॥ १३७ ॥

जस्साएसाउ तथा दिन्ना नरवाहणेण मह देवी? ।

पास-ट्ठिएहिं सिट्ठं, नरिंद! एवंति, अह रत्ता ॥ १३८ ॥

भणियं पविसउ सिग्घं पुच्छामो जेण देवि-वुत्तंतं ।

वयणाणंतरेसो पवेसिओ दारवालेण ॥ १३९ ॥

संस्कृत छाया—

द्वारे सुमतिनामा नैमित्तिकस्तिष्ठति इति श्रुत्वा ।

भणितं राज्ञा किं भो! स एष सुमतिनैमित्तिकः ? ॥ १३७ ॥

यस्याऽऽदेशात्तदा दत्ता नरवाहनेन मम देवी ? ।

पार्श्वस्थितैः शिष्टं, नरेन्द्र ! एवमिति, अथ राज्ञा ॥ १३८ ॥

भणितं प्रविशतु शीघ्रं पृच्छामो येन देवीवृत्तान्तम् ।

वचनानन्तरमेष प्रवेशितो द्वारपालेन ॥ १३९ ॥

गुजराती अनुवाद—

१३७-१३९. (सुमति नैमित्तिकनुं आगमन)- द्वारमां सुमति नामनो नैमित्तिक आवी उभो छे, ते सांभली राजास कह्युं 'शुं ते जे पेलो सुमति नैमित्तियो, के जेना आदेशथी त्यारे नरवाहन वडे मने देवी अपाई हती... त्यारे बाजुमां रहेलां लोकोस कह्युं हे नरेन्द्र! हा. सज.. त्यारे राजास कह्युं, जल्दीथी तेने प्रवेश आपो, जेथी देवीनो वृत्तांत पूछुं' राजाना आ वचन बाद तरत ज द्वारपाले नैमित्तिकनो प्रवेश कराव्यो. (त्रिभिः विशेषकम्)

हिन्दी अनुवाद—

दरवाजे पर सुमति नाम का ज्योतिषीं आकर खड़ा है। ऐसा सुनकर राजा ने कहा, 'क्या यह वही सुमति है जिसके आदेश पर नरवाहन की तरफ से मुझे देवी प्राप्त हुई थीं। तब पास में रहने वाले लोगों ने कहा कि हां, राजन! यह वही है। तब राजा ने कहा, 'शीघ्र उन्हें अन्दर ले आओ, जिससे उनसे हम देवी का वृत्तान्त पूछ सकें। राजा के इस वचन के बाद द्वारपालों ने ज्योतिषी का महल में प्रवेश कराया।

गाहा—

कथ-उवयारो रन्ना उवविट्टो विणय-पुव्वयं सुमई ।

आपुट्टो, किं देवी जीवइ व नवत्ति वज्जरसु? ॥ १४० ॥

संस्कृत छाया—

कृतोपचारो राज्ञा उपविष्टो विनयपूर्वकं सुमतिः ।

आपृष्टः, किं देवी जीवति वा नवेति कथय ? ॥ १४० ॥

गुजराती अनुवाद—

१४०. कचारेल उपचारवालो सुमति नैमित्तिक विनयपूर्वक बेठो, त्यारे राजास पूछ्युं, 'शुं महाराणी जीवे छे के नहीं ते कहो!

हिन्दी अनुवाद—

स्वागत आदि किए गये उपचार के बाद सुमति ज्योतिषी विनयपूर्वक बैठा। तब राजा ने उससे पूछा कि महारानी जीवित हैं या नहीं।

गाहा—

उवओगं दाऊणं भणियं अह सुमइणा जियइत्ति ।

अक्खय-देहा संपइ मिलिया इव बंधु-वग्गस्स ॥ १४१ ॥

संस्कृत छाया—

उपयोगं दत्त्वा भणितमथ सुमतिना जीवतीति ।

अक्षयदेहा सम्प्रति मीलितेव बन्धुवर्गस्य ॥ १४१ ॥

गुजराती अनुवाद—

१४१. (नैमित्तिक द्वारा राणी वृत्तांत)—

उपयोग आपीने सुमति नैमित्तिके कह्युं 'ते जीवे छे. अखंड देहवाली हमणां बंधुवर्गनि मलेली जाणे जणाय छे.

हिन्दी अनुवाद—

ज्ञान से देखकर ज्योतिषी ने कहा कि 'वह जीवित है'। अखण्ड देहवाली देवी अपने बन्धु बांधवों को मिल गयी हैं, ऐसा लगता है।

गाहा—

कइया समागमो मह तीए, किं वा हवेज्ज से गम्भे ? ।

इय पुट्ठो नर-वइणा कय-उवओगो पुणो भणइ ॥ १४२ ॥

संस्कृत छाया—

कदा समागमो मम तस्याः, किंवा भवेत्तस्या गर्भे ? ।

इति पृष्ठो नरपतिना कृतोपयोगः पुन-र्भणति ॥ १४२ ॥

गुजराती अनुवाद—

१४२. 'ते राणीनो मने सभागम क्यारे थशे? तेणीना गर्भन्तुं शुं थशे? आ प्रमाणे राजा वडे पूछयेल नैमित्तिके उपयोग मूकीने फरी आ प्रमाणे बोल्यो.

हिन्दी अनुवाद—

उस रानी से मेरा मिलन कब होगा? उसके गर्भ का क्या होगा? ऐसा ज्योतिषी से पूछने पर उसने कहा।

गाहा—

जइया नरिंद! सुविणे गिणहसि विसम-डियं कुसुम-मालं ।

तत्तो य मास-मित्ते समागमो तुम्ह देवीए ॥ १४३ ॥

संस्कृत छाया—

यदा नरेन्द्र ! स्वप्ने गृह्णासि विषमस्थितां कुसुममालाम् ।
ततश्च मासमात्रे समागमस्तव देव्याः ॥ १४३ ॥

गुजराती अनुवाद—

१४३. 'हे नरेन्द्र! ज्याचे स्वप्नमां तु विषम स्थानमां र्हेली पुष्पमालाने ग्रहण कर्षीश त्यारथी सक महिनामा तने देवीनुं मिलन थशे.

हिन्दी अनुवाद—

हे राजा! जब आप विषम स्थान में पड़ी पुष्पमाला का ग्रहण करेंगे, उसके एक महीने के अन्दर आपका देवी से मिलन होगा।

गाहा—

होही तणओ तीए विजुज्जिही किंतु जाय-मेत्तो सो ।
निय-माऊए, नर-वर! एवं किल कहइ हु निमित्तं ॥१४४॥

संस्कृत छाया—

भविष्यति तनयस्तस्या वियोक्ष्यते किन्तु जातमात्रः सः ।
निजमातुः, नरवर ! एवं किल कथयति खलु निमित्तम् ॥१४४॥

गुजराती अनुवाद—

१४४. राणीने पुत्र थशे पण हे राजन् ! जन्मतानी साथे तेने मातानो वियोग थशे. स प्रमाणे निमित्तशास्त्र कहे छे.

हिन्दी अनुवाद—

रानी को पुत्र प्राप्ति होगी किन्तु हे राजन्! जन्म के साथ ही उसका माँ से वियोग हो जायेगा, ऐसा ज्योतिष शास्त्र कह रहा है।

गाहा—

पुट्टो पुणरवि रन्ना जप्पणि-विउत्तो स जीविही किं नो? ।
कत्थवि वुड्ढिं जाही, कइया व समागमो तेण ? ॥१४५॥

संस्कृत छाया—

पृष्टः पुनरपि राज्ञा जननीवियुक्तः स जीविष्यति किं न ? ।
कुत्रापि वृद्धिं यास्यति, कदा वा समागमस्तेन ? ॥ १४५ ॥

गुजराती अनुवाद—

१४५. फरी पण राजारस पूछ्युं :माताथी वियोग पामेलो ते जीवशे के नहीं? ते मोटो क्यां थरो? तेनो मेलाप क्याटे थरो?

हिन्दी अनुवाद—

राजा ने पुनः पूछा 'माता से वियोग को प्राप्त वह जीवित रहेगा कि नहीं। वह बड़ा कहाँ होगा? उससे मिलना कब होगा?

गाहा—

अह सुमई भणइ पुणो बहु-कालं जीविही स ते पुत्तो ।

कथ्य य बुड्ढिं जाही एयं पुण नेव जाणामो ॥ १४६ ॥

संस्कृत छाया—

अथ सुमति-र्भणति पुनर्बहुकालं जीविष्यति स तव पुत्रः ।

कुत्र च वृद्धिं यास्यति एतद् पुन-नेव जानीमः ॥ १४६ ॥

गुजराती अनुवाद—

१४६. त्यारे सुमति नैमित्तिके कह्युं- 'तारो पुत्र लांबो काल जीवशे, परंतु ते क्यां मोटो थरो ते वात हुं जाणतो नथी.

हिन्दी अनुवाद—

तब सुमति ज्योतिषी ने कहा, 'आपका पुत्र लम्बे समय तक जीवित रहेगा किन्तु वह बड़ा कहाँ होगा, मैं यह बात नहीं जानता।

गाहा—

कुसुमाय-उज्जाणे जइया गयणाओ कन्नगा पडिही ।

तत्तो य सिग्घमेव हि समागमो तुम्ह तणएण ॥ १४७ ॥

संस्कृत छाया—

कुसुमाकरोद्याने यदा गगनात् कन्या पतिष्यति ।

ततश्च शीघ्रमेव हि समागमस्तव तनयेन ॥ १४७ ॥

गुजराती अनुवाद—

१४७. कुसुमाकट उद्यानमां ज्यारे आकाशमार्गथी कन्या पडशे व्यारब्बाद तटतज तारो पुत्र साथे समागम थरो.

हिन्दी अनुवाद—

कुसुमाकर उद्यान में जब आकाशमार्ग से कन्या गिरेगी उसके तुरन्त बाद
आपका आपके पुत्र के साथ मिलन होगा।

गाहा—

तद्वचनं सोऊणं गय-सोगो पहसिओ भणइ राया ।

भो! भो! सुवन्न-लक्खं सिग्घं सुमइस्स देहत्ति ॥ १४८ ॥

संस्कृत छाया—

तद्वचनं श्रुत्वा गतशोकः प्रहसितो भणति राजा ।

भो ! भोः ! सुवर्णलक्षं शीघ्रं सुमतये देहीति ॥ १४८ ॥

गुजराती अनुवाद—

१४८. (नैमित्तिकने भेट तथा विसर्जने)—

नैमित्तिकनुं ते वचन सांभलीने चाली गयेल शोकवालो तथा खुश
भयेलो राजा कहे छे. 'अरे! अरे! एक लाख सुवर्ण जल्दी थी सुमतिने
आपो.

हिन्दी अनुवाद—

ज्योतिषी की यह बात सुनकर शोक मुक्त एवं खुशी से राजा कहता है—
सुमति को शीघ्र ही एक लाख सुवर्ण मुद्रा दो।

गाहा—

एय-वयणाओ अम्हं देवी-विरहम्मि गरुय-सोगग्गी ।

पसरंतो ओल्हविओ समागमासा-जलोहेण ॥ १४९ ॥

संस्कृत छाया—

एतद्वचनादस्माकं देवीविरहे गुरुशोकाग्निः ।

प्रसरन् विध्यापितः समागमाऽऽज्ञाजलौघेन ॥ १४९ ॥

गुजराती अनुवाद—

१४९. आना वचनथी देवीना विरहमा फेलायेलो भारे शोकरूप अग्नि,
देवीना समागमरूपी पाणीना धोध वड़े चुझावायो छे.

हिन्दी अनुवाद—

इस वचन से देवी के विरह से फैले भारी शोक रूपी अग्नि, देवी के मिलन
रूपी पानी के झरने से बुझ गयी।

गाहा—

अह निययाभरणेणं सुवन्न-लक्खेण पूइओ सुमई ।

नीहरिओ रायावि हु मणयं जाओ विगय-सोगो ॥ १५० ॥

संस्कृत छाया—

अथ निजकाऽऽभरणेन सुवर्णलक्षणेन पूजितः सुमतिः ।

निःसृतो राजाऽपि खलु मनाक् जातो विगतशोकः ॥ १५० ॥

गुजराती अनुवाद—

१५०. हवे पोताना आभरण तथा लक्षसुवर्ण वडे सन्मान पामेल
नैमित्तिक सुमति विसर्जन पाम्यो, राजा पण थोडो शोक रहित थयो.

हिन्दी अनुवाद—

उसके बाद आभूषण और एक लाख सुवर्ण मुद्राओं से सम्मानित सुमति
ज्योतिषी अपने घर चला गया और राजा भी शोकरहित हो गए।

गाहा—

अह अन्नया य राया सुत्तो रयणीइ पेच्छए सुमिणं ।

उत्तर-दिसा-मुहेणं वयमाणेणं मए कूवे ॥ १५१ ॥

पडिया अद्ध-मिलाणा धवला कुसुमाण मालिया दिट्ठा ।

गहिया सहसा जाया पच्चग्गा सुरहि-गंधक्का ॥ १५२ ॥

संस्कृत छाया—

अथाऽन्यदा च राजा सुप्तो रजन्यां प्रेक्षते स्वप्नम् ।

उत्तरदिङ्गमुखेन व्रजता मया कूपे ॥ १५१ ॥

पतिताऽर्धम्लाना धवला कुसुमानां मालिका दृष्टा ।

गृहीता सहसा जाता प्रत्यग्रा सुरभिगन्धाढ्या ॥ १५२ ॥ युग्मम् ।

गुजराती अनुवाद—

१५१-१५२. (राजाने स्वप्न दर्शन)—

हवे कोई वखते रात्रिमां सुतेलो राजा जुवे छे के 'उत्तरदिशा तरफ
थी आवती कूवां पडेली, अडधी म्लान थयेली पुष्पमाला मारा वडे ग्रहण
कराई अने ते माला ओचिंती सुरभिगंधयुक्त ताजी थई गई. (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद—

किसी समय रात में सोया राजा स्वप्न देखता है कि उत्तर दिशा की ओर से आती हुई कुएं में गिरी आधी म्लान हो गयी पुष्पमाला को मैंने ग्रहण किया और वह माला तुरन्त सुगन्ध से भरी ताजी हो गयी।

गाथा—

ददृशुणमिणं सुमिणं पडिबुद्धो चिंतए इमं राया ।

एयं हि सुमइ-भणियं दिट्टं सुमिणं मए अज्ज ॥ १५३ ॥

संस्कृत छाया—

दृष्ट्वेदं स्वप्नं प्रतिबुद्धश्चिन्तयतीदं राजा ।

एतद् हि सुमतिभणितं दृष्टं स्वप्नं मयाऽद्य ॥ १५३ ॥

गुजराती अनुवाद—

१५३. आ स्वप्न जोईने जागेलो राजा आ प्रमाणे विचारटे छे के, सुमति निमित्तिया ना कहेवा प्रमाणे मे आजे स्वप्न जोयुं छे.

हिन्दी अनुवाद—

यह स्वप्न देखकर जाग्रत हुआ राजा विचार करता है कि सुमति के कहने के अनुसार ही आज मैंने स्वप्न देखा है।

गाथा—

ता होही लहु इण्हं मज्झ वयंतस्स उत्तर-दिसाए ।

विसम-दसा-पत्ताए देवीए संगमोऽवस्सं ॥ १५४ ॥

संस्कृत छाया—

तस्मात् भविष्यति लघु इदानीं मम व्रजत उत्तरदिशि ।

विषमदशाप्राप्ताया देव्याः सङ्गमोऽवश्यम् ॥ १५४ ॥

गुजराती अनुवाद—

१५४. (स्वप्नोचित कार्य) तेथी अत्याटे उत्तरदिशां जता विषम परिस्थितिमां आवेली देवीनो अवश्य मने शीघ्र समागम थरो.

हिन्दी अनुवाद—

इसलिए उत्तर दिशा में जाते हुए विषम परिस्थिति में आती हुई देवी का मुझसे शीघ्र ही मिलन होगा।

गाहा—

इय चिन्तिऊण राया निय-देस-पलोयण-च्छलेणं तु ।

गुरु-सेणा-परियरिओ नीहरिओ हत्थिण-पुराओ ॥ १५५ ॥

संस्कृत छाया—

इति चिन्तयित्वा राजा निजदेशप्रलोकनच्छलेन तु ।

गुरुसेनापरिकरितो निःसृतो हस्तिनापुरात् ॥ १५५ ॥

गुजराती अनुवाद—

१५५. आ प्रमाणे विचारिने पोताना देशने जोवाना बहानाथी मोटी सेनाथी पटिवरेलो राजा हस्तिनापुर थी नीकलयो!

हिन्दी अनुवाद—

यह विचार कर राजा अपने देश का दौरा करने के बहाने बड़ी सेना लेकर हस्तिनापुर से निकल गया।

गाहा—

कइवय-पयाणगाइं गंतुं उत्तंग-गिरि-समाइन्ने ।

अइगुविल-तरु-सणाहे अडवि-पएसम्मि एगम्मि ॥ १५६ ॥

आवासिओ ससेन्नो अह कूवे दीह-तण-समोच्छइए ।

कहवि हु पमाय-वसओ पडिया रन्नो चमर-हारी ॥ १५७ ॥

युगमं

संस्कृत छाया—

कतिपयप्रयाणकानि गत्वोतुङ्गगिरिसमाकीर्णे ।

अतिगुपिलतरुसनाथेऽटवीप्रदेशे एकस्मिन् ॥ १५६ ॥

आवसितः ससैन्य अथकूपे दीर्घतृणसमवच्छन्ने ।

कथमपि खलु प्रमादवशतः पतिता राज्ञः चामरधारिणी ॥ १५७ ॥

युगमम्

गुजराती अनुवाद—

१५६-१५७. केटलाक प्रयाणो करीने उंचा पर्वतोथी व्याप्त, खुबज गहन वृक्षोना समुदायवाला एक जंगलना प्रदेशमां सैन्य सहित राजा रहयो, हवे लांबा घास थी आच्छादित कुवाभां कोइक प्रमादना वशथी राजानी चामरधाची ते कुवाभां पडी. युगमम्।

हिन्दी अनुवाद—

कितना प्रयाण कर ऊँचे पर्वतों से व्याप्त, गहन वृक्षों से युक्त एक जंगल प्रदेश में राजा सैनिकों सहित रहा। तभी लम्बी घास से ढके कुएं में असावधानीवश राजा का चामरधारी गिर पड़ा। युग्मम्।

गाहा—

अह रन्ना आणत्तो पुरिसो रज्जु-प्यओगओ तत्थ ।
ओइन्नो संतमसे इओ तओ जाव गविसेइ ॥ १५८ ॥
ता एगत्य-निलुक्कं पिच्छइ जुवइं तडीइ अगडस्स ।
भय-कंपंत-सरीरं संतमसे तत्थ अच्चंतं ॥ १५९ ॥

संस्कृत छाया—

अथ राज्ञाऽऽज्ञप्तः पुरुषो रज्जुप्रयोगतस्तत्र ।
अवतीर्णं सन्तमस इतस्ततो यावत् गवेषयति ॥ १५८ ॥
तावदेकत्र निलीनां प्रेक्षते युवतीं तद्यामवटस्य ।
भयकम्पमानशरीरां सन्तमसे तत्राऽत्यन्तम् ॥ १५९ ॥

गुजराती अनुवाद—

१५८-१५९. हवे राजानी आज्ञा पाभेला पुरुषो दोरडःना प्रयोगथी ते कुवाभां उतर्या. अंधारामां अहीं-तहीं ज्यां शोधे छे त्यां तो कुवाना किनारे अत्यंत अंधारामां एक बाजु छुपायेली तथा भयथी धूजता शरीरवाली युवतीने जुवे छे. (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद—

राजा की आज्ञा दिए हुए कुछ पुरुष रस्ती के सहारे कुएं में उतरे और अंधेरे में इधर-उधर खोजने लगे। तभी वे कुएं के एक किनारे अंधेरे में छुपी भय से काँपती युवती को देखते हैं।

गाहा—

कासि तुमं इह सुंदरि! इइ पुट्टा जा न देइ पडिवयणं ।
ताव य जल-मज्झ-गया विलासिणी कंठ-गय-पाणा ॥ १६० ॥
संपत्ता तेण तओ धित्तूण तयं कमेण नीहरिओ ।
वज्जरइ राय! एत्थं अन्नावि हु अच्छए जुवई ॥ १६१ ॥

संस्कृत छाया—

काऽसि त्वमिह सुन्दरि ! इति पृष्ठा यावन्न ददाति प्रतिवचनम् ।
तावच्च जलमध्यगता विलासिनी कण्ठगतप्राणा ॥ १६० ॥
सम्प्राप्ता तेन ततो गृहीत्वा तां क्रमेण निःसृतः ।
कथयति राजन् ! अत्राऽन्याऽपि खल्वास्ते युवती ॥ १६१ ॥
युग्मम् ॥

गुजराती अनुवाद—

१६०-१६१. हे सुन्दरि! तू कोण छे? स प्रमाणे पूछयेली कई जवाब नथी आपती त्यां तो ते स्त्री कंठे आवेला प्राण सम्मान पाणीनी अंदर पहोंची गई. त्याएखाद तेने प्राप्त कयी अनुक्रमे बहार आव्यो अने कहे छे राजन्! अहीं बीजी पण महिला छे?

हिन्दी अनुवाद—

हे सुन्दरी! तुम कौन हो? ऐसा पूछने पर भी कोई जवाब न देने वाली वह स्त्री जैसे उसके प्राण कंठ में आकर रुक गए हों, पानी में अन्दर पहुँच गयी। फिर उसे लेकर वे बाहर आये और राजा से बोले, हे राजन्! यहाँ एक दूसरी महिला भी है।

गाहा—

आभट्टावि न भासइ भएण कंपंत-तणु-लया वरई ।
एयं निसम्म रत्नो फुरियं अह दाहिणं नयणं ॥ १६२ ॥

संस्कृत छाया—

आभाषितापि न भाषते भयेन कम्पमानतनुलता वराकी ।
एतद् निशम्य राज्ञः स्फुरितमथ दक्षिणं नयनम् ॥ १६२ ॥

गुजराती अनुवाद—

१६२. भयथी कंपायमान तनु लता सम्मान (पतली लता सम्मान) ते बिचाटी बोलाववा छतां बोलती नथी. आ वात सांभलीने राजानी जमणी आँख फरकवा लागी.

हिन्दी अनुवाद—

भय से कांपती, पतली लता के समान वह बेचारी बुलाने से भी नहीं बोल रही थी। यह सुनकर राजा की दाहिनी आँख फड़कने लगी।

गाहा—

अह विम्हिण्ण रन्नो विच्चिंतियं किं हविज्ज सा देवी ।
अहवा इह अडवीए देवीए संभवो कत्थ ? ॥ १६३ ॥

संस्कृत छाया—

अथ विस्मितेन राज्ञा विचिन्तितं किं भवेत् सा देवी ।
अथवा इहाटव्यां देव्याः सम्भवः कुतः ? ॥ १६३ ॥

गुजराती अनुवाद—

१६३. हवे विस्मयपामेल राजार विचार्युं शुं ते महाराणी हशे, पण
आ अरण्यमां देवीनी संभावना क्याथी?

हिन्दी अनुवाद—

आश्चर्यचकित राजा ने विचार किया, क्या वह महारानी हैं किन्तु इस जंगल
में उस देवी की सम्भावना कैसे हो सकती है?

गाहा—

अहवा कम्म-वसाणं सत्ताणं नवरि एत्थ संसारे ।
भवियव्वया-वसेणं नत्थि तयं जं न संभवइ ॥ १६४ ॥

संस्कृत छाया—

अथवा कर्मवशानां सत्त्वानां नवरमत्र संसारे ।
भवितव्यतावशेन नास्ति तद् यन्न सम्भवति ॥ १६४ ॥

गुजराती अनुवाद—

१६४. अथवा तो खरेखरट आ संसारमां कर्मवश प्राणीओने
भवितव्यताना योगथी खुं कइ ज नथी के जे न थाय.

हिन्दी अनुवाद—

अथवा तो इस संसार में कर्मवश प्राणिओं के भाग्य से ऐसा कुछ भी नहीं
है जो न हो सकता हो।

गाहा—

जइ सा हविज्ज देवी ता सुंदरमेव, कावि अह अन्ना ।
तहवि हु उत्तारिज्जउ करुणा-मूलो जओ धम्मो ॥ १६५ ॥

संस्कृत छाया—

यदि सा भवेत् देवी तर्हि सुन्दरमेव, काप्यथान्या ।

तथापि खलु उत्तार्यतां करुणामूलो यतो धर्मः ॥ १६५ ॥

गुजराती अनुवाद—

१६५. जो ते देवी होय तो तो सरस ज अथवा जो बीजी कोई पण महिला होय तो पण खरेखर तेने बहार काढवी जोईस कारण के करुणामय ज धर्म छे।

हिन्दी अनुवाद—

यदि वह वही देवी है तब तो ठीक है किन्तु यदि दूसरी कोई महिला भी हो तो निश्चित ही उसे बाहर निकालना चाहिए क्योंकि करुणा ही धर्म है।

गाहा—

इय चिंतिकुण रज्ञा भणिओ पुरिसो तयंपि कड्ढेहि ।

अह सो रज्जूइ पुणो पुरिसो कूवम्मि ओइन्नो ॥ १६६ ॥

संस्कृत छाया—

इति चिन्तयित्वा राज्ञा भणितः पुरुषः तामपि कर्ष ।

अथ स रज्ज्वा पुनः पुरुषः कूपेऽवतीर्णः ॥ १६६ ॥

गुजराती अनुवाद—

१६६. आ प्रमाणे विचायीने राजास पुरुषने कह्युं— 'ते स्त्रीने पण बहार काढ त्वाएबाद दोरडा साथे ते पुरुष फरी कुवाभां उतर्यो।

हिन्दी अनुवाद—

ऐसा विचार कर राजा ने उस पुरुष से कहा, 'उस स्त्री को भी बाहर निकालो। उसके बाद रस्सी के सहारे वह व्यक्ति दुबारा कुएं में उतरा।

गाहा—

भणिया य सुयणु! अहयं रज्ञो सिरि-अमरकेउ-नामस्स ।

वयणणं तुहुत्तारण-कज्जेणं पुणरवि पविट्ठो ॥ १६७ ॥

संस्कृत छाया—

भणिता च सुतनो ! अहं राज्ञः श्रीअमरकेतुनाम्नः ।

वचनेन तवोत्तारणकार्येण पुनरपि प्रविष्टः ॥ १६७ ॥

गुजराती अनुवाद—

१६७. ते पुरुषे ते स्त्रीने कह्युं- 'हे सुतनो! श्री अमरकेतुनामना राजानी आज्ञा थी तने बचाववा बहाट काढवा फरी हुं अहीं आव्यो छुं.

हिन्दी अनुवाद—

उस पुरुष ने उस स्त्री से कहा, 'हे देवि श्री अमरकेतु नामक राजा की आज्ञा से तुम्हें बचाने के लिए अथवा बाहर निकालने हेतु पुनः यहाँ आया हूँ।

गाहा—

ता आरुह मंचीए नरगागाराओ अंध-कूवाओ ।

जेणुत्तारेमि लहुं एयं च निसम्म सा वयणं ॥ १६८ ॥

आरूढा मंचीए कमेण उत्तारिया तओ देवी ।

दुब्बल-देहा रत्ना कहकहवि हु पच्चभिन्नाया ॥ १६९ ॥

संस्कृत छाया—

तस्मादारोह मञ्चायां नरकागारादन्धकूपात् ।

येनोत्तारयामि लघु एतच्च निशम्य सा वचनम् ॥ १६८ ॥

आरूढा मञ्चायां क्रमेणोत्तारिता ततो देवी ।

दुर्बलदेहा राज्ञा कथंकथमपि खलु प्रत्यभिज्ञाता ॥ १६९ ॥ युग्मम् ॥

गुजराती अनुवाद—

१६८-१६९. (कूवाभाथी छाणीनी प्राप्ति)-

तेथी मांचा उपर बेसी जा जेथी अंधकूवाभाथी तने जल्दी बहाट काढुं, आ वचन सांभलीने ते स्त्री मांचा उपर चढ़ी गई. क्रमथी तेने बहाट काढी, दुर्बल देहवाली ते देवीने राजास महामुशकेलीस ओलखी. (युग्मम्)

हिन्दी अनुवाद—

इसलिए मंच के ऊपर बैठ जाओ जिससे अंधेरे से तुम्हें बाहर निकाला जा सके। यह सुनकर वह स्त्री मंच के ऊपर बैठ गई। बाहर निकलने के बाद दुर्बल शरीरवाली उस देवी को कठिनाई से राजा पहचान सके।

गाहा—

सावि य ददतुं रायं रोवंती घग्घरेण सहेण ।

चरण-विलग्गा रत्ना अंसु-जलप्फुन्न-नयणेण ॥ १७० ॥

नीया निययावासे देविं ददूण परियणो सव्वो ।

अइगुरु-सोगो रोवई विविह-पलावेहिं दीण-मुहो ॥१७१॥

संस्कृत छाया—

सापि च छट्वा राजानं रुदन्ती घघरिण शब्देन ।

चरणविलगना राज्ञा अश्रुजल(अप्फुन्न)आपूर्णनयनेन ॥१७०॥

नीता निजकावासे देवीं छट्वा परिजनः सर्वः ।

अतिगुरुशोको रोदिति विविधप्रलापै-दीनमुखः ॥१७१॥ युगम् ॥

गुजराती अनुवाद—

१७०-१७१. तेणी पण राजाने जोइने गद्गद् शब्दों वड़े चडती अश्रुजलथी पूर्ण नेत्रो वड़े राजाना चरणमां पडी. ओ राजा पण तेणीने पोताना महेलमां लइ गयो, महाराणीने जोइने अत्यंत शोकयुक्त दीनमुखवालो समस्त परिजन वर्ग विविध प्रलापो वड़े चडवा लाग्यो.

हिन्दी अनुवाद—

राजा को देखकर गद्गद् होकर रोती हुई आंसुओं से भरी आंखों वाली वह राजा के चरण में गिर पड़ी। राजा भी उसे अपने महल में ले गए। महारानी को देखकर अत्यन्त शोकाकुल दीन मुखवाले परिजन रोने लगे।

गाहा—

अह कय-सरीर-चिड्डा पुट्टा कमलावई नरिंदेण ।

तइया करिणा नीयाए किं तुमे देवि! अणुभूयं? ॥१७२॥

संस्कृत छाया—

अथ कृतशरीरचेष्टा पृष्टा कमलावती नरेन्द्रेण ।

तदा करिणा नीतया किं त्वया देवि ! अनुभूतम् ? ॥ १७२ ॥

गुजराती अनुवाद—

१७२. हवे शारीरिक क्रियाओ पूर्ण करी राजाए कमलावती राणीने पूछ्युं हे देवी! हाथी तने उंचकीने लइ गयो त्यारे ते शुं अनुभूति करी?

हिन्दी अनुवाद—

पश्चात् शारीरिक दैनिक क्रियाएँ पूर्ण कर राजा ने कमलावती रानी से पूछा— हे देवी! जब हाथी आपको ले गया तब आपने क्या अनुभव किया?

गाहा—

कइया व कहव पडिया भीसण-कूवम्मि एत्थ अडवीए? ।

कमलावईइ भणियं सुणसु महा-राय! साहेमि ॥ १७३ ॥

संस्कृत छाया—

कदा वा कथं वा पतिता भीषणकूपेऽत्राटव्याम् ? ।

कमलावत्या भणितं शृणु महाराज ! कथयामि ॥ १७३ ॥

गुजराती अनुवाद—

१७३. क्यारे अने केवी चीते तुं आ जंगलमां भीषण कूवामां पडी त्यारे कमलावती स कह्युं 'हे महाराजा! हुं कहं छुं आप सांभलो.

हिन्दी अनुवाद—

कब और कैसे तू इस जंगल के भीषण कुएं में गिरी? तब कमलावती ने कहा, महाराज मैं बता रही हूँ सुनिए।

गाहा—

वड-पायवम्मि लग्गे देवे तं विलगिगुं असत्ता हं ।

वेग-पहाविय-करिणा हरिया एगागिणी ताव ॥ १७४ ॥

संस्कृत छाया—

वटपादपे लग्ने देवे तं विलगितुमशक्ताहम् ।

वेगप्रधावितकरिणा ह्यता एकाकिनी तावत् ॥ १७४ ॥

गुजराती अनुवाद—

१७४. (कमलावती राणीने वृत्तांत)– आपे वडना झाडने पकड़ी लीधुं पण हु पकडवा असमर्थ छनी तेटली वारमां तो वेगथी दोडता हाथीस मने सकलीने धारण कयी.

हिन्दी अनुवाद—

आपने पेड़ की डाल को पकड़ लिया था किन्तु मैं नहीं पकड़ सकी। इतनी देर में शीघ्रता से दौड़ता हुआ हाथी आया और मुझ अकेली को धारण कर लिया।

गाहा—

अह सो गिरि-सरियाए विसम-तडिं पाविऊण सहसत्ति ।

अइवेग-भंग-भीउव्व नह-यलं झत्ति उप्पइओ ॥ १७५ ॥

संस्कृत छाया—

अथ स गिरिसरितो विषमतटीं प्राप्य सहसेति ।

अतिवेगभङ्गभीत इव नभस्तलं झटिति उत्पतितः ॥ १७५ ॥

गुजराती अनुवाद—

१७५. अने अचानक ते हाथी पर्वत-नदी विगेटे विषम स्थलाने प्राप्तकरी अति वेगना भंगथी जाणे डरी न गयो होय तेम आकाशमां उड्यो.

हिन्दी अनुवाद—

तभी अचानक वह हाथी पहाड़, नदी आदि विषम स्थलों से होता हुआ अति वेग के टूटने से जैसे डर गया हो, आकाश में उड़ गया।

गाहा—

तत्तो भय-भीयाए विचिंतियं हंत! करि-वर-पविट्टो ।

अवहरइ कोवि देवो न जेण करिणो वयंति नहे ॥ १७६ ॥

संस्कृत छाया—

ततो भयभीतया विचिन्तितं हन्त ! करिवरप्रविष्टः ।

अपहरति कोऽपि देवो न येन करिणो व्रजन्ति नभसि ॥ १७६ ॥

गुजराती अनुवाद—

१७६. त्याटे भयथी डरेली में विचार्युं के 'हाथीमां प्रवेश करेल कोई पण देवे मारुं' अपहरण करेल छे. अन्यथा हाथी आकाशमां उडे नहीं।

हिन्दी अनुवाद—

तब भय के कारण डरी हुई मैंने विचार किया कि हाथी में प्रवेश किये हुए किसी देव ने मेरा अपहरण किया है, अन्यथा हाथी आकाश में उड़ता नहीं।

गाहा—

इय विम्हिय-हियया हं पुणो पुणो जा महिं पलोएमि ।

पिच्छामि ताव गिरि-तरु-पमुहं समगंव वच्चंतं ॥ १७७ ॥

संस्कृत छाया—

इति विस्मितहृदयाहं पुनः पुनर्यावन्महीं प्रलोकयामि ।

प्रेक्षे तावद् गिरितरुप्रमुखं समकं वा व्रजन्तम् ॥ १७७ ॥

गुजराती अनुवाद—

१७७ आ प्रमाणे विस्मित हृदयवाली हूं वाचंवाए पृथ्वीने जोती हती
त्याए पर्वत-वृक्षो आदि पण साथे जतां हूं जोती हती.

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार विस्मित हृदयवाली मैं बार-बार पृथ्वी को देखती रही तथा साथ-
साथ जाते पहाड़ और वृक्षों को भी देखती रही।

गाहा—

अविय।

एगागिणी अरण्ये महिला बीहिज्ज अडवी-मज्झम्मि ।

इय कलिउंख सहाया तरुणो वेगेण धावन्ति ॥ १७८ ॥

संस्कृत छाया—

अपि च ॥

एकाकिनी अरण्ये महिला बिभीयात् अटवीमध्ये ।

इति कलयित्वेव सहायास्तरवो वेगेन धावन्ति ॥ १७८ ॥

गुजराती अनुवाद—

१७८. अने वळी, जंगलमां दहेली एकली महिला जंगलनी वच्चे डरे
सम समजिने ज जाणे वृक्षो वेगथी दोडता हता.

हिन्दी अनुवाद—

और जंगल में रही अकेली स्त्री जंगल के बीच में होने के कारण डरी हुई
है, ऐसा समझकर जैसे वृक्ष तेजी से दौड़ रहे थे।

गाहा—

किडिय-नयर-समाइं चलंत-मणुयाइं गाम-नयराइं ।

जल-भरिय-सर-वराइंवि(पि?) महि-निवडिय-छत्त सरिसाइं । १७९

दीहर-वण-राईओ सप्य-सरिच्छाओ सच्चविज्जन्ति ।

पालि-सरिच्छा गिरिणो सारणि-सरिसाओ सरियाओ ॥ १८० ॥

संस्कृत छाया—

कीटिकानगरसमानि चलन्मनुजानि ग्रामनगराणि ।

जलभृतसरोवराण्यपि महीनिपतितछत्रसदृशानि ॥ १७९ ॥

दीर्घवनराजयः सर्पसदृक्षा दृश्यन्ते ।

पालिसदृक्षा गिरयः सरणीसदृशाः सरितः ॥ १८० ॥

गुजराती अनुवाद—

१७९-१८०. चालता मानवो तथा गाव् अ नगरो कीडियारा
समान...तथा पाणीथी भरेला सरोवरो पृथ्वी पर पडेला छत्र समान...मोटी
वनराजीओ सर्प समान...पर्वतो पाली समान... तथा नदीओ नीक
समान...देखाती हती...युग्मम्.

हिन्दी अनुवाद—

चलते मानव तथा गाँव और नगर चींटी के समान, पानी से भरे तालाब
पृथ्वी पर रखे छाते के समान, बड़े वृक्षों की कतारें साँप के समान, पहाड़ मेड़
के समान तथा नदियाँ नाली के समान दिख रही थीं।

गाथा—

अह दूरमइगयाए संभरिओ अंगुलीयग-मणी सो ।

अवहत्थिय ताहि भयं पहओ सो तेण कुंभ-यडे ॥ १८१ ॥

संस्कृत छाया—

अथ दूरमतिगतया संस्मृतोऽङ्गुलीयकमणिः सः ।

अपहस्तयित्वा तदा भयं प्रहतः स तेन कुंभस्तटे ॥ १८१ ॥

गुजराती अनुवाद—

१८१. दूर गया पछी मने आंगलीमा रहेलो पेलो मणि याद आव्यो,
त्यारे में भय छोड़िने ते हाथीनां कुंभस्थल ऊपर घा कर्यो।

हिन्दी अनुवाद—

दूर जाने के बाद अंगुली में पड़ी मणि याद आई। तब मैंने निडर हो हाथी
के कुंभस्थल पर वार किया।

गाथा—

अविय।

मणि-संजुय-कर-पहओ वज्जेणिव ताडिओ गइंदो सो ।

मोत्तुं गुरु-चीहाडिं अहोमुहो झत्ति गयणाओ ॥ १८२ ॥

जा निवडइ वेगेण ताव य हिट्ठा-मुहं नियंतीए ।

दिट्ठं महंतमेगं सरो-वरं भंगुर-तरंगं ॥ १८३ ॥

संस्कृत छाया—

अपि च ॥

मणिसंयुक्तकरप्रहतो वज्रेणैव ताडितो गजेन्द्रः सः ।

मुक्त्वा गुरुचीहाडीं (चीत्कारं) अधोमुखो झटिति गगनात् । १८२

यावन्निपतति वेगेन तावच्च अधोमुखं पश्यन्त्या ।

छटं महदेकं सरोवरं भङ्गुरतरङ्गम् ॥ १८३ ॥ युगम् ॥

गुजराती अनुवाद—

१८२-१८३. अने वली मणियुक्त हाथना प्रहारथी जाणे ताडन न कराव्यो होय तेम मोटी गर्जना करीने अधोमुखवाळो जल्दी आकाशाथी नीचे वेगपूर्वक उतरे छे. त्याटे नीचे जोती में नाशवंत तरंगोवाळुं सक मोटुं सरोवर जोयुं।

हिन्दी अनुवाद—

मणियुक्त हाथ के प्रहार से जैसे कभी किसी ने प्रताड़ित न किया होय, वैसी बड़ी गर्जना कर नीचे मुखवाला हाथी जल्दी से नीचे उतर रहा है। तभी नीचे देखती हुए मुझे तरंग रहित एक तालाब दिखा।

गाहा—

परिहत्थ-मच्छ-पुच्छ-च्छडाहि उच्छलिय-सलिल-उप्पीलं ।

महु-मत्त-महुयरी-विसर-रुद्ध-वियसंत-तामरसं ॥ १८४ ॥

संस्कृत छाया—

(दक्ष) परिहत्थमत्स्यपुच्छच्छटाभिरुच्छलितसलिलोप्पीलम् (सङ्घातम्) ।

मधुमत्तमधुकरीविसररुद्धविकसत्तामरसम् ॥ १८४ ॥

गुजराती अनुवाद—

१८४. (सरोवरनुं वर्णन) —

माछ्कीओना पूंछडानी छटाथी जलराशि जेमां उछली रही हती, मदोन्मत्त मधुकरीना समुदायथी रुंथायेल विकसित कमलो जेमां छे.

हिन्दी अनुवाद—

वह तालाब ऐसा था जिसमें मछलियों के पूंछ से जलराशि उछल रही थी, जिसमें मदोन्मत्त भंवरो के समुदाय को बन्द कर देने वाले कमल खिले थे।

गाहा—

अविय।

फुरंत-मणि-जालयं तरंत-टिट्टिभालयं ।

रहंग-पंति-मंडियं विहंग-सत्थ-वडुयं ॥१८५॥

अपि च ॥

संस्कृत छाया—

स्फुरद्मणिजालकं तरत्तिट्टिभालयम् ।

रथाङ्गपङ्क्तिमण्डितं विहङ्गसार्थवडुयं (व्याप्तम्) ॥१८५॥

गुजराती अनुवाद—

१८५. अने वली स्फुरायमान मणीनी जाल जेवुं, तरता टिट्टिभ (तितली) नुं जाणे घट चक्रवाकनी पंक्तिथी शोभतुं, पक्षीओना समूह थी व्याप्त.

हिन्दी अनुवाद—

तेजवाले मणि से शोभित तथा जिसमें तैरते हुए टिट्टिभ (तितली) प्रकाशित मणियों के जाल की तरह शोभित हैं जो पक्षियों के समूह से व्याप्त है तथा जिसमें चक्रवाक पक्षी की कतारें शोभित हो रही हैं।

गाहा—

भमंत-भूरि-गोहियं सरोरुहालि-सोहियं ।

अपोग-सावयाउलं झसोह-लुब्ध-साउलं ॥१८६॥

संस्कृत छाया—

भ्रमद्भूरिगोधिकं सरोरुहालिशोभितम् ।

अनेकश्चापदाकुलं झषौघलुब्धसङ्कुलम् ॥ १८६ ॥

गुजराती अनुवाद—

१८६. भ्रमती मोटी गोधाओयुक्त, कमळोनी श्रेणीथी शोभतुं, अनेक दुष्ट प्राणीओथी व्याप्त, माछलीओना समुदायमां लुब्ध शिकारीओ थी व्याप्त.

हिन्दी अनुवाद—

जिसमें विशेष प्रकार के बड़े जीव टहल रहे थे, जो कमल की पंक्तियों से शोभित है, जिसमें अनेक दुष्ट जीव हैं तथा जो मछली मारने वाले शिकारियों से व्याप्त है।

गाहा—

चलंत- भीम- गाहयं रडंत- दददूरोहयं ।

मराल- पंति- सोहियं तमाले- ताल- रेहियं ॥ १८७ ॥

संस्कृत छाया—

चलद्भीमग्राहकं रटन्दुर्दुरीघकम् ।

मरालपङ्क्तिशोभितं तमालतालराजितम् ॥ १८७ ॥

गुजराती अनुवाद—

१८७. चालता भयंकट ग्राह जंतुओ ज्यां छे, अवाज करता देडकाओना समूह ज्यां छे, राजहंसनी पंक्तिओधी मनोहर, तमाल अने तालना झाडथी सुंदर.

हिन्दी अनुवाद—

जिसमें मगर आदि अनेक भयंकर जीव चलते हैं, जिसमें मेढकों का समूह टर-टर की आवाज करता है तथा जो तमाल के पेड़ों तथा राजहंस की पंक्तियों से शोभित है।

गाहा—

रणंत- छप्पयालियं बलाय- पंति- मालियं ।

फुरंत- सिप्पि- संपुडं भमंत- भीम- दीवडं ॥ १८८ ॥

संस्कृत छाया—

रणत्वदपदालिकं बलाकापङ्क्तिमालिकम् ।

स्फुरत्शक्तिसम्पुटं भ्रमद्भीमदीवडम् ॥ १८८ ॥

गुजराती अनुवाद—

१८८. रणकार करता भ्रमराओनी श्रेणिवालुं, बगलाओनी हाटमाला थी शोभतुं, सुंदर छीपलाओना संपुटवालुं, भ्रमता भयंकट दीपडाथी आकुल.

हिन्दी अनुवाद—

जिसमें भंवरों की श्रेणियां गुंजार कर रही हैं, जो बकुलों की पंक्तिमाला से शोभित है, जिसमें सुन्दर सीपों के सम्पुट हैं तथा जो भयंकर विशेष प्रकार के जीवों से आकुल है।

गाहा—

अह तम्मि नीर- पुन्ने अणोरपारम्मि सर- वरे हत्थी ।

गयणाओ नीसहंगो पडिओ बुड्ढो य जल- मज्झे ॥ १८९ ॥

संस्कृत छाया—

अथ तस्मिन् नीरपूर्णेऽणोरपारै सरोवरे हस्ती ।

गगनाद् निःसहाङ्गः पतितो मग्नश्च जलमध्ये ॥ १८९॥

गुजराती अनुवाद—

१८९. हवे ते आवा पाणीथी भटेला अगाध सरोवरमां गगनथी असक्त अंगवालो हाथी पडयो अने पाणीमां डूबी गयो. (पञ्चभिः कुलकम्)

हिन्दी अनुवाद—

तभी पानी से भरे अगाध तलाब में आकाश से अशक्त अंगों वाला हाथी गिरा और पानी में डूब गया। (पंचभि कुलकम्)

गाहा—

अह नीसहे गइंदे बुड्डे गंभीर-नीर-मज्झम्मि ।

मणिणो माहप्पेणं जल-उवरिं चेव थक्का हं ॥१९०॥

संस्कृत छाया—

अथ निःसहे गजेन्द्रे मग्ने गम्भीरनीरमध्ये ।

मणे-महात्प्येन जलोपरिमेव स्थिताऽहम् ॥ १९० ॥

गुजराती अनुवाद—

१९०. हवे अशक्त अंगवालो हाथी उंडापाणीमां डूबी गये छते मणिना प्रभावथी हुं जल ऊपर ज रही.

हिन्दी अनुवाद—

अशक्त अंगों वाला हाथी गहरे पानी में डूब गया किन्तु मणि के प्रभाव से मैं ऊपर ही तैरती रही।

गाहा—

आसाइय-फलगावि य उत्तरिउं सर-वरस्स तीरम्मि ।

उवविट्ठा भय-भीया गुरु-सोगा इय विचिंतता ॥१९१॥

संस्कृत छाया—

आसदितफलकाऽपि चोत्तीर्य सरोवरस्य तीरे ।

उपविष्टा भयभीता गुरुशोकेति विचिन्तयन्ती ॥ १९१ ॥

गुजराती अनुवाद—

१९१. प्राप्त कटेला पाटीयावाली हुं सरोवरनां किनारे उतरी. अने
भयथी डरेली तथा भाटे शोकवाली आ प्रमाणे विचार करती बेठी!

हिन्दी अनुवाद—

प्राप्त तख्ते के सहारे मैं तालाब के किनारे उतरी। भय से डरी तथा शोकयुक्त
मैं इस प्रकार विचार करती हुई बैठी।

गाहा—

तारिस-रिद्धि-जुयावि हु खणेण एयागिणी कहं जाया ।

देसियं-जुवईव अहो! अइ-गुबिलो कम्म-परिणामो ॥१९२॥

संस्कृत छाया—

तादृशार्द्धियुताऽपि खलु क्षणेनेकाकिनी कथं जाता ।

देशिकयुवतिरिव अहो ! अतिगुपिलः कर्मपरिणामः ॥१९२॥

गुजराती अनुवाद—

१९२. (सरोवर पास एणीनो विलाप)—

तेवा प्रकारनी ऋद्धिवाली क्षणवारमां देशमां प्रवास माटे गयेली स्त्रीनी
जेम सकली केवी चीते थई गई? खरेखर! कर्म परिणाम अति गहन छे.

हिन्दी अनुवाद—

सरोवर के पास रानी का विलाप

इतनी ऋद्धि से सम्पन्न देश में रहने के लिए गयी स्त्री की तरह अकेली
किस प्रकार हो गई, यह निश्चित रूप से कर्म फल अति गहन है।

गाहा—

सो कथ भिच्च-वग्गो सा य सिरी सो विणीय-परिवारो ।

होहामि कहं इण्हं विहिया एगागिणी विहिणा? ॥१९३॥

संस्कृत छाया—

स कुत्र भृत्यवर्गः सा च श्री स विनीतपरिवारः ।

भविष्यामि कथमिदानीं विहिता एकाकिनी विधिना ? ॥१९३॥

गुजराती अनुवाद—

१९३. ते नोकएवर्ग कयां? ते लक्ष्मी कयां? ते विनीत परिवार कयां?
भाग्यवडे मने सकली कराई हवे शुं थरो?

हिन्दी अनुवाद—

वे नौकर-चाकर कहाँ हैं? लक्ष्मी कहाँ है, वह विनीत परिवार कहाँ है, भाग्य के कारण मैं अकेली हो गयी, आगे क्या होगा?

गाहा—

एमाइ चिंतयंती उवरिम-वत्थेण छाइउं वयणं ।

सरण-विहूणा सोएणं तत्थ अहं रोविउं लग्गा ॥ १९४ ॥

संस्कृत छाया—

एवमादि चिन्तयन्ती उपरितनवस्त्रेण छादयित्वा वदनम् ।

शरणविहीना शोकेन तत्राऽहं रोदितुं लग्ना ॥ १९४ ॥

गुजराती अनुवाद—

१९४. इत्यादि विचार करती उपरना वस्त्रबड़े मुखने ढांकीने शरण रहित हुं शोकवड़े त्यां रुदन करवा लागी.

हिन्दी अनुवाद—

इत्यादि विचार करती हुई मैं शरण रहित ऊपरी वस्त्र से मुंह ढंककर रोने लगी।

गाहा—

एत्थंतरम्मि केणवि भणिया किं सुयणु! रोयसे करुणं? ।

तत्तो ससंभमाए पलोइयं मे तओहुत्तं ॥ १९५ ॥

संस्कृत छाया—

अत्रान्तरे केनाऽपि भणिता किं सुतनो ! रोदिषि करुणम् ? ।

ततः ससम्भ्रमया प्रलोकितं मया तदभिमुखम् ॥ १९५ ॥

गुजराती अनुवाद—

१९५. सटलीवारमां कोइ वड़े कहेवायु- हे सुतनो! केम करुणाजनक एडे छे? त्याए संभ्रमपूर्वक में तेनी सामे जोयुं...

हिन्दी अनुवाद—

तभी किसी ने कहा हे पुत्री क्यों इतनी करुणापूर्वक विलाप कर रही हो। तभी संभ्रम पूर्वक मैंने सामने देखा—

गाहा—

कइवय-पुरिस-सहाओ तरुण-नरो वेसरीइ आरूढो ।
कय-मुह-संधी पुरओ दिट्टो उद्धूलियंगिल्लो ॥ १९६ ॥

संस्कृत छाया—

कतिपयपुरुषसहायस्तरुणनरो वेसर्यामारूढः ।
कृतमुखसन्धिः पुरतो छष्ट उद्धूलिताङ्गवान् ॥ १९६ ॥

गुजराती अनुवाद—

१९६. (सार्थनो भेलाप)—

केटलाक पुरुषोनी साथे खच्चर उपर बेठेलो, धूलथी खरडायेल
शरीरवालो युवान पुरुष आगळ जोयो।

हिन्दी अनुवाद—

अनेक पुरुषों के साथ खच्चर पर बैठा हुआ, धूलधूसरित शरीर वाला एक
युवक दिखाई दिया।

गाहा—

अह सो दट्टुण ममं विम्हिय-हियउव्व वेसराहिंतो ।
उत्तरिय मज्झ चलणेसु निवडिओ भणइ एवं तु ॥ १९७ ॥

संस्कृत छाया—

अथ स छट्वा मां विस्मित हृदय इव वेसर्याः ।
उत्तीर्य मम चरणयो-निपतितो भणति एवन्तु ॥ १९७ ॥

गुजराती अनुवाद—

१९७. हवे ते पुरुष मने जोइने जाणे विस्मय पाभेलो खच्चर परथी
उतरीने मारु चरणोमां पडयो. अने आ प्रमाणे चील्यो.

हिन्दी अनुवाद—

तब वह पुरुष मुझे देखकर आश्चर्य चकित हो खच्चर पर से उतर कर मेरे
चरणों में गिरकर इस प्रकार बोला—

गाहा—

परिजाणसि भगिणि! ममं सिरिदत्तो हं कुसग्गनयराओ ।
आसि गओ पर-विसए वणिज्ज-बुद्धीए सत्थ-जुओ ॥ १९८ ॥

संस्कृत छाया—

परिजानासि भगिनि ! मां श्रीदत्तोऽहं कुशाग्रनगरात् ।

आसं गतः परविषये वणिज्यबुद्धया सार्थयुतः ॥ १९८ ॥

गुजराती अनुवाद—

१९८. हे भगिनी! मने ओलखे छे? कुशाग्रनगर थी आवेलो श्रीदत्त छुं-व्यापार माटे सार्थनी साथे अन्यदेशमां गयो हतो.

हिन्दी अनुवाद—

हे भगिनी! मुझे पहचानती हो? मैं कुशाग्र नगर से आया हुआ श्रीदत्त हूँ। सार्थ के साथ व्यापार के लिए मैं अन्य देश में गया था।

गाहा—

बारसम-वच्छराओ पुणरवि चलिओ पुरम्मि निययम्मि ।

सत्थेण समं इण्हं संपत्तो इह पएसम्मि ॥१९९॥

संस्कृत छाया—

द्वादशवत्सरात् पुनरपि चलितः पुरे निजे।

सार्थेण सममिदानीं सम्प्राप्त इह प्रदेशे ॥ १९९ ॥

गुजराती अनुवाद—

१९९. ब्बार वर्ष बाद हवे पाछे पोताना नगर तरफ चालेलो सार्थनी साथे हालमां आ प्रदेशमां आव्यो।

हिन्दी अनुवाद—

सार्थ के साथ बारह वर्षों पश्चात् अपने नगर की तरफ वापस आने पर हाल ही में इस प्रदेश में आया हूँ।

गाहा—

ता भगिणि! केण विहिणा जाया एगागिणी तुमं एत्थ? ।

इय भणिया तेण अहं विगय-भया झटिति संजाया ॥२००॥

संस्कृत छाया—

तस्माद् भगिनि ! केन विधिना जातैकाकिनी त्वमत्र ? ।

इति भणिता तेनाऽहं विगतभया झटिति सञ्जाता ॥ २०० ॥

गुजराती अनुवाद—

२००. तेथी हे बहेन! क्या कारणथी तुं अहीं सकली थइ छे? आ प्रमाणे तेणे कह्युं तेथी हुं तरत भयरहित थई।

हिन्दी अनुवाद—

हे भगिनी! किस कारण से तुम यहाँ अकेली हो गयी हो? उसके ऐसा कहने पर मैं तुरन्त भयरहित हो गयी।

गाहा—

तत्तो य मए सिद्धो गयावहाराइ-नियय-वुत्तंतो ।

अह दिन्न-वयण-सोया भणिया वणिण्ण तेणाहं ॥ २०१ ॥

संस्कृत छाया—

ततश्च मया शिष्यो गजाऽपहृतादिनिजवृत्तान्तः ।

अथ दत्तवदनशौचा भणिता वणिजेन तेनाऽहम् ॥ २०१ ॥

गुजराती अनुवाद—

२०१. त्यारबाद में हाथी द्वारा अपहरणनो माओ वृत्तांत कह्यो-पछी ते वाणियाए मुख शुद्धि करावी ओ पछी मने कह्युं.

हिन्दी अनुवाद—

उसके बाद हाथी के द्वारा किए अपहरण के वृत्तान्त को मैंने उसे सुनाया। उसके बाद उस बनियें ने मुख शुद्धि कराने के बाद मुझसे कहा।

गाहा—

दूरम्मि हत्थिणपुरं सावय-चोरेहिं दुग्गमो मग्गो ।

आसन्नं खु कुसग्गं किं कायव्वं तुमे भगिणि! ? ॥ २०२ ॥

संस्कृत छाया—

दूरे हस्तिनापुरं श्वापदचौरै-दुग्गमो मार्गः ।

आसन्नं खलु कुशाग्रं किं कर्तव्यं त्वया भगिनि ! ? ॥ २०२ ॥

गुजराती अनुवाद—

२०२. हस्तिनापुर नगर दूर छे. दुष्ट प्राणीओ तथा चोरो थी व्याप्त दुग्मि मार्ग छे. कुशाग्रनगर नजीकमां छे, तो हे भगिनी! तारे शुं करवुं छे?

हिन्दी अनुवाद—

हस्तिनापुर नगर दूर है। वहां जाने का रास्ता खतरनाक प्राणियों और चोरों के कारण दुर्गम है। कुशाग्रनगर नजदीक है। तो हे बहन! अब तुम्हें क्या करना है?

गाहा—

ततो य मए भणियं कुसग्गनयरम्मि वच्चिमो ताव ।

पेच्छामि बंधु-वग्गं पभूय-कालाओ सिरिदत्त! ।। २०३ ।।

संस्कृत छाया—

ततश्च मया भणितं कुशाग्रनगरे व्रजावस्तावत् ।

प्रेक्षे बन्धुवर्गं प्रभूतकालात् श्रीदत्त ! ।। २०३ ।।

गुजराती अनुवाद—

२०३. त्याऐ में कहयुं हे श्रीदत्त! हमणा कुशाग्रनगरमां जइए घणा वखते बंधुवर्गनि जोइश...

हिन्दी अनुवाद—

तब मैंने कहा हे श्रीदत्त! अभी कुशाग्रनगर में चलेंगे और वहाँ काफी लम्बे समय से मिले भाइयों से मिलेंगे।

गाहा—

अह तेण सहरिसेणं नीया सत्थम्मि नियय-आवासे ।

विणओवयार-पुव्वं च कारिया सयल-देह-ठिइं ।। २०४ ।।

संस्कृत छाया—

अथ तेन सहर्षेण नीता सार्थे निजकावासे ।

विनयोपचारपूर्वं च कारिता सकलदेहस्थितिः ।। २०४ ।।

गुजराती अनुवाद—

२०४. हवे श्रीदत्त हर्षपूर्वक मने सार्थमां पोताना आवासमां लई गयो, अने विनय-उपचार पूर्वक सम्स्त शरीरनी सारवाट करावी।

हिन्दी अनुवाद—

तब श्रीदत्त खुशी-खुशी मुझे अपने आवास में ले गया और विनय तथा उपचार पूर्वक शरीर की सेवा सुश्रुषा की।

गाहा—

तं देव-दिन्न-कुंडल-पमुहं सव्वंपि नियय-आभरणं ।
मोत्तूण अंगुलीयं समप्पियं तस्स वणियस्स ॥ २०५ ॥

संस्कृत छाया—

तद् देवदत्तकुण्डलप्रमुखं सर्वमपि निजकाऽऽभरणम् ।
मुक्त्वाऽङ्गुलीयं समर्पितं तस्य वणिजस्य ॥ १०५ ॥

गुजराती अनुवाद—

२०५. एक मात्र अंगुठी छोडीने देवे आपेल कुंडल विगेटे च्छां आभरण
ते वाणियाने आप्स्या.

हिन्दी अनुवाद—

एक मात्र अंगूठी को छोड़कर देव द्वारा दिए गए कुंडल आदि सभी आभूषण
उस बनिये को मैंने दिया।

गाहा—

तत्तो सत्थेण समं चलिया सिरिदत्त-परियण-समेया ।
किज्जंत-विविह-विणया वणिणं, डोलियारूढा ॥ २०६ ॥

संस्कृत छाया—

ततः सार्थेण समं चलिता श्रीदत्तपरिजनसमेता ।
क्रियमाणविविधविनया वणिजेन, (शिबिका)डोलिकारूढा ॥ २०६ ॥

गुजराती अनुवाद—

२०६. त्याचखाद सार्थीनी साथे श्रीदत्तना परिजन साथे हुं चाली, वाणिया
वडे करायेला विविध प्रकारना विनयवाली हुं शिबिकामां बेठी!

हिन्दी अनुवाद—

उसके बाद कारवां (सार्थ) और श्रीदत्त के परिजनों के साथ मैं चली। बनिये
द्वारा किये गए विभिन्न प्रकार की विनय वाली मैं डोली में बैठी।

गाहा—

सोवि हु सत्थो जाव य लहुय-पयाणेहिं वयइ अणुदियहं ।
कइवय-पयाणगाइं ता एग-दिणम्मि अडवीए ॥ २०७ ॥

संस्कृत छाया—

सोऽपि खलु सार्थो यावच्च लघुकंप्रयाणै-व्रजत्यनुदिवसम् ।

कतिपयप्रयाणकानि तावदेकदिनेऽटव्याम् ॥ २०७ ॥

गुजराती अनुवाद—

२०७. ते सार्थं पणं जल्दी प्रयाण करवा पूर्वक दररोज आगल चाले छे. आम केटलाक प्रयाणो द्वारा एक दिवस जंगलमां आव्यो।

हिन्दी अनुवाद—

वह कारवाँ भी शीघ्रता से प्रतिदिन आगे आगे चलता रहा। इस प्रकार कई दिन चलने के बाद एक दिन जंगल में आया।

गाहा—

अवसउणेणं थक्को दियहे दियहे न जायए सउणं ।

जाव य दिवङ्ग-मासे वोलीणे सव्व-सत्थिल्ला ॥ २०८ ॥

संबल-रहिया तहइं ठाउमसत्ता तओ समुच्चलिया ।

अवगन्निय अवसउणं निय-पुर-गमणस्स तुरमाणा ॥ २०९ ॥

संस्कृत छाया—

अपशकुनेन स्थितो दिवसे दिवसे न जायते शकुनम् ।

यावच्च द्वयार्धमासेऽतिक्रान्ते सर्वसार्थिकाः ॥ २०८ ॥

शम्बलरहितास्तत्र स्थातुमशक्तास्ततः समुच्चलिताः ।

अवगणय्य अपशकुनं निजपुरगमनस्य त्वरमाणाः ॥ २०९ ॥ युग्मम्

गुजराती अनुवाद—

२०८. अपशुकन थवाथी सार्थं रोकाई गयो. दिवसोना दिवसो गया पणं शुकन न थया. सार्थना च्छदा लोकोस दोढमास जेटलो समय त्यां पसाट कर्यो पणं भाथु खलास थई जवा थी त्यां रहेवा असमर्थ खवा तेओ अपशुकननी अवगणना कटीने पोतानां नगरमां जवानी उतावलां करतां त्यांथी चाल्या.

हिन्दी अनुवाद—

अपशुकन होने से कारवाँ को रोक लिए गया। कई दिन बीत गए पर शुकन नहीं हुआ। कारवाँ के सभी लोग पन्द्रह दिन तक वहाँ रहे किन्तु रास्ते का भोजन

समाप्त हो जाने के कारण वहाँ रहने में असमर्थ लोग अपशकुन की अवगणना कर अपने नगर में जाने के लिए उत्सुक हो चल पड़े।

गाहा—

ततो बीय-पयाणे पभाय-समयम्मि तम्मि सत्थम्मि ।

सहसा अन्नाउच्चिय दिन्नो भिल्लेहिं ओक्खंदो ॥ २१० ॥

संस्कृत छाया—

ततो द्वितीयप्रयाणे प्रभातसमये तस्मिन् सार्थे ।

सहसा अज्ञात एव दत्तो भिल्लैरवस्कन्दः ॥ २१० ॥

गुजराती अनुवाद—

२१०. (सार्थिमां धाड)–

त्याट्छाद चीजा प्रयाणमां प्रभात समये ते सार्थ ऊपट अचानक
अजाणता ज भीलोस धाड पाडी.

हिन्दी अनुवाद—

उसके बाद दूसरे प्रयाण में सुबह के समय अन्जाने भीलों ने कारवां पर
अचानक हमला कर दिया।

गाहा—

अह कलयलं निसामिय सत्थ-जणे तत्थ आउलीभूए ।

भिल्लेहिं हम्ममाणे ल्हसिज्जंते य सयराहं ॥ २११ ॥

सज्झस-भरिया अहमवि पडिया अडवीइ जाव इक्कल्ला ।

घेत्तुणं एग-दिसं नट्टा अइगुविल-तरु-गहणे ॥ २१२ ॥

संस्कृत छाया—

अथ कलकलं निशाम्य सार्थजने तत्राऽऽकुलीभूते ।

भिल्लै-हृन्वमाने स्त्रस्यमाने च (सयराहं) शीघ्रम् ॥ २११ ॥

साध्वसभृताऽहमपि पतिताटव्यां यावदेकाकी ।

गृहीत्वा एकदिशं नष्टाऽतिगुपिलतरुगहने ॥ २१२ ॥

गुजराती अनुवाद—

२११-२१२. हवे कोलाहल सांभलीने सार्थिना प्रवासीओ आकुल
व्याकुल थया. भीलो घड़े हणाये छते जल्दी सरकवा लाग्या. भय युक्त हुं

पण सक्की जंगलमां आवी पड़ी. त्याचे एक दिशा तरफ अतिगहन वृक्षोनी झुडी तरफ नाशी...

हिन्दी अनुवाद—

कोलाहल सुनकर कारवां के सभी लोग परेशान हो गए। भील द्वारा पराभूत हो जल्दी-जल्दी जाने लगे। डर के कारण मैं अकेले झाड़ी युक्त जंगल में आ गयी।

गाहा—

खणमेगं तत्थच्छिय वयामि किल तम्मि सत्थ-ठाणम्मि ।
पुणरवि मिलामि जेणं सत्थस्स अहंति चिंतंती ॥ २१३ ।
जाव पयट्टा गंतुं ताव न जाणामि कत्थ गंतव्वं ।
कत्तो समागया हं काए व दिसाए सो सत्थो ॥ २१४ ॥

संस्कृत छाया—

क्षणमेकं तत्रस्थिता व्रजामि किल तस्मिंस्सार्थस्थाने ।
पुनरपि मिलामि येन सार्थस्यऽहमिति चिन्तयन्ती ॥ २१३ ॥
यावत् प्रवृत्ता गन्तुं तावन्न जानामि कुत्र गन्तव्यम् ।
कुतस्समागताऽहं कस्यां वा दिशायां स सार्थः ॥ २१४ ॥ युग्मम्

गुजराती अनुवाद—

२१३-२१४. क्षणमात्र त्यां रही पुनः ते सार्थना स्थाने जवुं अने फटी ते सार्थने हुं मलुं उभ विचारती जवा माटे तैयार तो थई पण क्यां जवुं ते जाणी न शकी. क्यांथी हुं आवी छुं अने कइ दिशाभां ते सार्थ छे ते पण न जणायुं.

हिन्दी अनुवाद—

मैं वहाँ कुछ देर रही फिर कारवां में मुझे वापस जाना चाहिए, यह सोचकर जाने के लिए तैयार हो गयी। किन्तु कहाँ जाऊं? मैं कहां से आई हूँ? और मेरा कारवां किस दिशा में है? यह मैं न जान सकी।

गाहा—

भय-कंपंत-सरीरा ताहे एयं दिसं गहेऊण ।
संजाय-दिसः-मोहा चलिया तरु-गहण-मज्जेण ॥ २१५ ॥

संस्कृत छाया—

भयकम्पमानशरीरा तदा एकां दिशं गृहीत्वा ।

सञ्जातदिग्मोहा चलिता तरुगहनमध्येन ॥ २१५ ॥

गुजराती अनुवाद—

२१५. (सार्थथी विखूटी पडेली छाणी)—

भयंकट कंपता शरीरवाली त्याचे ते दिशाने लक्ष्यकरीने दिशाथी मोहित थयेली वृक्षोना गहन भागनी मध्यमांथी पसार थई।

हिन्दी अनुवाद—

जोर से कांपती मैं तब उस दिशा को लक्ष्य कर जैसे उस दिशा से मोहित हो गयी हूँ, घने वृक्षों के बीच में आ गई।

गाहा—

दूरं गंतूण पुणो वलिया वच्चामि पिट्टओहुत्तं ।

सिरिदत्त-जण-गवेसण-परायणा तत्थ वण-गहणे ॥ २१६ ॥

संस्कृत छाया—

दूरं गत्वा पुनर्वलिता व्रजामि पृष्ठतोमुखम् ।

श्रीदत्तजनगवेषणपरायणा तत्र वनगहने ॥ २१६ ॥

गुजराती अनुवाद—

२१६. श्रीदत्तना माणसोने शोधवामां लागेली दूर जइने फटी पाछी वली. अने ते भयंकट अटवीमां फटी आगल चाली.

हिन्दी अनुवाद—

श्रीदत्त के लोगों को ढूढ़ती हुई दूर जाकर पुनः पीछे आई और उस भयंकर जंगल में फिर से आगे बढ़ी।

गाहा—

अह भय-तरलच्छीए इओ तओ तत्थ परिभमंतीए ।

उम्मग्ग-गमण-भज्जंत-कंटयाइन्न-चरणाए ॥ २१७ ॥

पह-सम-सुढियाइ दढं पए पए नीसहं कणंतीए ।

वसिमन्नेसण-हेउं चडिऊण थलम्मि एगम्मि ॥ २१८ ॥

जा पुलइयं समंता ताव न दीसइ कहंपि वसिमंति ।

वियरंत-वाल-निवहा समंतओ भीसणा अडवी ॥ २१९ ॥

संस्कृत छाया—

अथ भयतरलाक्ष्या इतस्ततस्तत्र परिभ्रमन्त्यां ।

उन्मार्गगमनभङ्गत्कण्टकाऽऽकीर्णचरणया ॥ २१७ ॥

पथश्रमश्रान्तया ह्रं पदे पदे निःसहं ववणन्त्या ।

वसत्यन्वेषणाहेतुं चटित्वा स्थलैकस्मिन् ॥ २१८ ॥

यावद् दृष्टं समन्तात्तावन्न दृश्यते कथमपि वसतिरिति ।

विचरद्द्व्यालनिवहाः समन्ततो भीषणाऽटवी ॥ २१९ ॥

तिसृभिः कुलकम्

गुजराती अनुवाद—

२१७-२१९. हवे भयथी फरती आंश्रवाली जंगलमा अहीं तहीं फरती, उन्मार्गमां जवाथी भांगेला कांटा थी भोंकायेला पगवाली...मार्गना श्रमथी थाकेली होवाथी पगले-पगले अत्यंत कणसती, वसतिने शोधवा माटे एक स्थळमां चडीने... ज्यां चारेबाजु जोयुं त्यं कोई वसति देख्राई नहीं, पण फरतां व्याल-वाघना समूह वाली चारे बाजु भयंकट अटवी देख्राई... (तिसृभिः विशेषकम्)

हिन्दी अनुवाद—

भय के कारण मेरी आँखें फड़क रही थीं, गलत रास्ते पर भटक जाने के कारण पैरों में काँटे चुभ गए थे, चलते चलते थक जाने और पैर के काँटे के कारण कराहती, आस-पास कोई बस्ती है या नहीं, यह देखने के लिए एक ऊँचे स्थान पर चढ़कर चारों तरफ देखी किन्तु कोई बस्ती नहीं दिखाई दी किन्तु शेर बाघ वाला भयंकर जंगल अवश्य दिखाई दिया।

गाहा—

अविय।

कत्थ य कराल-केसरि-गुंजिय-सवणुत्तसंत-सारंगा ।

कत्थइ महंत-जुज्झंत-मत्त-वण-महिसयाइत्रा ॥ २२० ॥

संस्कृत छाया—

अपि च ।

कुत्र च करालकेशरिगर्जनाश्रवणोत्रसत्सारङ्गाः ।

कुत्रापि महद्बुध्यमानमत्तवनमहिषाकीर्णाः ॥ २२० ॥

गुजराती अनुवाद—

२२०. अने वळी, क्यांक भयंकर सिंहनी त्राडना श्रवणथी त्रास पामेला हरणो हता, क्यांक मोट्टु युद्ध करतां मत्त जंगलनी भेंसो हती...

हिन्दी अनुवाद—

वहाँ कहीं तो सिंह की भयंकर गर्जना से डरे हुए हिरन थे तो कहीं लड़ते हुए जंगली भैंसे थे।

गाहा—

कत्थइ गरुय-पवंगम-विमुक्क-बोक्कार-बहिरिय-दियंता ।

कत्थ य वण-दव-डज्झंत-जंतु-कय-भीसणारावा ॥ २२१ ॥

संस्कृत छाया—

कुत्रापि गुरुकप्लवङ्गमविमुक्तबुत्कारबधिरितदिगन्ताः ।

कुत्र च वनदवदह्यमानजन्तुकृतभीषणारावाः ॥ २२१ ॥

गुजराती अनुवाद—

२२१. क्यांक मोटा वानरोना मुकाता चुत्कार थी चहेटा कराया छे दिशाना अंतभाग, अने क्यांक-वनना दावानलथी छळता जीवो वडे भीषण अवाज थई रह्यो हतो...

हिन्दी अनुवाद—

कहीं तो बन्दरों के चित्कार से बहरी हो गयी दिशाएं थीं तो कहीं वन में लगी दावानल (जंगली आग) में उबल रहे जीवों की भयंकर आवाज हो रही थी।

गाहा—

कत्थइ पर्यंड-गंडय-खंडिय-रुरु-विसर-रुहिर-बीभच्छा ।

कत्थइ सरह-पलोयण-पलायमाणोरु-करि-विसरा ॥ २२२ ॥

संस्कृत छाया—

कुत्राऽपि प्रचण्डगण्डकखण्डितरुरुविसररुधिरबीभत्साः ।

कुत्रापि सरभ्रलोकनपलायमानोरुकरिविसराः ॥ २२२ ॥

गुजराती अनुवाद—

२२२. क्यांक प्रचंड गेंडाथी पीडित थयेल हरणो हता, खेचरोना रुधिरथी बीभत्स क्यांक सिंहना जोवाथी पलायमान थता हाथीओनो समुदाय हतो.

हिन्दी अनुवाद—

कहीं गैंडों से पीड़ित हिरन थे तो कहीं खेचरों के खून से बीभत्स बने...
कहीं सिंह को देखकर भागता हाथियों का समूह था।

गाहा—

अविय।

वियरंत-महा-धनु-हृत्थ-लोद्धया सुक्क-मय-सिर-सणाहा ।

जेडुक्क-मूल-कलिया गुरु-चित्ता-रोहिणी-समेया ॥ २२३॥

संस्कृत छाया—

अपि च ।

विचरन्महाधनुर्हस्तलुब्धकाः शुष्कमृगशिरसनाथाः ।

ज्येष्ठार्कमूलकलिता गुरुचित्रारोहिणीसमेताः ॥ २२३॥

गुजराती अनुवाद—

२२३. अने वळी, मोटा धनुष्य हाथमां लडने फटता शिकारिओ,
हटणेना शुष्क मस्तकोथी युक्त शिकारीओ... मोटा आकडाना वृक्षना मूलथी
युक्त- गुरु चित्र तथा रोहिणी औषधथी युक्त...

(पक्षे)- मघा नक्षत्र, धनुः राशि, हस्त नक्षत्र, आर्द्रा नक्षत्र जेमां छे...
शुक्र-मृगशिर नक्षत्र सहित... ज्येष्ठ नक्षत्र, सूर्य, मूल नक्षत्रथी युक्त...
बृहस्पति तथा चित्रा 'रोहिणी नक्षत्रथी युक्त...

हिन्दी अनुवाद—

जिसमें बड़े-बड़े धनुष हाथ में लिए शिकारियों का समूह घूम रहा था, सूखे हुए हिरनों के मस्तक से युक्त शिकारी... बड़े... आकड़े के वृक्ष की जड़ से युक्त तथा गुरु, चित्र तथा रोहिणी औषधि युक्त, मघा नक्षत्र धनुराशि, हस्त नक्षत्र, आर्द्रा नक्षत्र जिसमें है, जो शुक्र मार्गशीर्ष नक्षत्रों से युक्त ज्येष्ठ नक्षत्र सूर्य, मूल तथा बृहस्पति चित्रा रोहिणी नक्षत्र से युक्त है।

गाहा—

भह-वय-समण-सहिया उडुंत-विसाह-पयड-मंदारा ।

वियरंत-भूरि-रिक्खा रेहइ अडवी नह-सिरिक्व ॥ २२४॥

संस्कृत छाया—

भद्रव्रतश्रमणसहिता, उत्तिष्ठद्विशाखप्रकटमन्दाराः ।

विचरद्भूरिनक्षत्रा राजतेऽटवी नभःश्रीरिव ॥ २२४ ॥

गुजराती अनुवाद—

२२४. सारा व्रत नियमोनुं पालन कटनारा साद्युओ जेमां छे. शाखा विनाना प्रगट मंदार वृक्षो जेमां छे तथा भल्लूक (रींछ) प्राणीओ जेमां फरी चह्या छे।

(पक्षे)— भद्रपद तथा श्रावणनक्षत्रयो युक्त... विशाखा-शनि-मंगल-विगेरे नक्षत्रयो युक्त आकाशनी शोभानी जेम आ अटवी शोभी रही छे.

हिन्दी अनुवाद—

जिसमें व्रत आदि नियमों का पालन करने वाले साधु हैं, जिसमें शाखा रहित मन्दार वृक्ष है, जिसमें भालू आदि प्राणि विचरण कर रहे हैं। (पक्षे) जहाँ भाद्रपद तथा श्रावण नक्षत्र से युक्त विशाखा, शनि, मंगल आदि नक्षत्रों से युक्त आकाश सुशोभित हो रहा है।

गाहा—

अह तं अडविं सुइरं पलोययंतीइ गाढ-तिसियाए ।

एक्कम्मि दिसा-भाए दिट्ठं जल-भरिय-सरमेगं ॥ २२५ ॥

संस्कृत छाया—

अथ तामटवीं सुचिरं प्रलोकयन्त्या गाढतृषितया ।

एकस्मिन् दिग्भागे छटं जलभृतसर एकम् ॥ २२५ ॥

गुजराती अनुवाद—

२२५. हवे आ अटवीने लांबा काल पर्यंत जोती अत्यन्त तृषातुट थयेली में एक दिशा भागमां. पाणीथी भरैलुं एक सरोवर जोयुं.

हिन्दी अनुवाद—

ऐसे जंगल को लम्बे समय से देखती, प्यास से व्याकुल मैंने पानी से भरा हुआ एक सरोवर देखा।

गाहा—

तत्तो तत्तोहुत्तं चलिया भय-लोल-लोयणा अहयं !

कहकहवि हु संपत्ता तम्मि पएसम्मि किच्छेण ॥ २२६ ॥

संस्कृत छाया—

ततस्तदभिमुखं चलिता भयलोललोचना अहम् ।

कथंकथमपि खलु सम्प्राप्ता तस्मिन् प्रदेशे कृच्छ्रेण ॥ २२६ ॥

गुजराती अनुवाद—

२२६. त्याचे भयथी चञ्चल नेत्रवाली हुं ते सरोवर तरफ चाली, केमे करीने ते स्थाने महामहेनते पहींची.

हिन्दी अनुवाद—

भययुक्त चंचल नेत्रों वाली मैं उस सरोवर की तरफ चल पड़ी और काफी मेहनत करने के बाद वहाँ पहुँचीं।

गाहा—

पीथं च तत्थ सलिलं उवविद्धा तरु-वरस्स हिद्धम्मि ।

एत्थंतरम्मि तरणी अंतरिओ पसरिया रयणी ॥ २२७ ॥

संस्कृत छाया—

पीतं च तत्र सलिलमुपविष्टा तरुवरस्याऽधः ।

अत्रान्तरे तरणिरन्तरितः प्रसुता रजनी ॥ २२७ ॥

गुजराती अनुवाद—

२२७. त्यां पाणी पीथुं अने वृक्षनी नीचे बेठी. तेटलीवारमां सूर्यास्त थड गयो अने चात्रि फेलाई.

हिन्दी अनुवाद—

वहाँ पानी पीकर पेड़ के नीचे बैठी। इतने में सूर्यास्त हो गया और रात हो गयी।

गाहा—

तओ।

फेक्कारंति सिवाओ जह जह गुञ्जन्ति सावया विविहं ।

तह तह भएण हिययं कंपइ मह तत्थ रन्नम्मि ॥ २२८ ॥

संस्कृत छाया—

ततः ।

फेत्कारयन्ति शिवा यथा यथा गर्जन्ति श्वापदा विविधम् ।

तथा तथा भयेन हृदयं कम्पते मम तत्राऽरण्ये ॥ २२८ ॥

गुजराती अनुवाद—

२२८. त्याएखाद शियालीयाओ जेम-जेम फेल्काओ छोडे छे अने जंगली प्राणीओ विविध प्रकारे अवाज करे छे तेम-तेम ते जंगलमा भय वड़े मारुं हृदय कम्पवा लाग्युं.

हिन्दी अनुवाद—

उसके पश्चात् जैसे-जैसे सियारिन हुआं-हुआं करती हुई चिल्लाती, जंगली जीव भिन्न-भिन्न प्रकार की आवाजे निकालते वैसे-वैसे उस जंगल में डर के मारे मेरा हृदय कांपने लगा।

गाहा—

अह अङ्ग-रत्त-समए जाया उदरम्मि दूसहा वियणा ।
तव्वसओ य कणंती लुलामि भूमिए जाव अहं ॥ २२९ ॥
ताव य मिगीव रन्ने अङ्गुरु-वियणाहि पीडिय-सरीरा ।
सयमेव पसविया हं महा-किलेसेण नर-नाह ! ॥ २३० ॥

संस्कृत छाया—

अथ अर्धरात्रसमये जातोदरे दूस्सहा वेदना ।
तद्दशतश्च क्वणन्ती लोलामि भूमौ यावदहम् ॥ २२९ ॥
तावच्च मृगीवाऽरण्येऽतिगुरुवेदनाभिः पीडितशरीरा ।
स्वयमेव प्रसूताऽहं महाक्लेशेन नरनाथ ! ॥ २३० ॥ युग्मम् ॥

गुजराती अनुवाद—

२२९-२३०. (पुत्रजन्म)— तेटलांमां अडधीं छाते पेटमां असह्य वेदना थवा लागी. ते वेदनाना कारणे कणसति हुं भूमि पर ज्यां आलोढुं छुं तेटलीवारमा तो हरणियानी जेम अति भाटे वेदनाओथी पीडित शरीरवाली में हे नरनाथ! प्रसव कर्यो। (जन्म आप्यो)

हिन्दी अनुवाद—

इतने में आधीरात के समय पेट में असह्य दर्द उठने लगा। उस दर्द के कारण कराहती मैं जब भूमि पर लोटने लगी, तभी हरिणी की तरह भारी शरीर वाली मुझे प्रसव हुआ। (बालक को जन्म दिया)

गाहा—

मुच्छा-विरमे य तओ लुलमाणं महि-यलम्मि तं बालं ।
घित्तुण निजुच्छंगे गरुय-सिणेहेण तत्तो य ॥ २३१ ॥
गंतूण जलासन्ने ण्हावित्ता ताहि नियय-वत्थाइं ।
पक्खालिय एगंते उवविट्ठा तरु-लया-गहणे ॥ २३२ ॥

संस्कृत छाया—

मूर्च्छाविरमे च ततो लुठन्तं महीतले तं बालम् ।
गृहीत्वा निजोत्सङ्गे गुरुस्नेहेन ततश्च ॥ २३१ ॥
गत्वा जलाऽऽसन्ने स्नात्वा तदा निजकवस्त्रादि ।
प्रक्षाल्य एकान्ते उपविष्टा तरुलतागहने ॥ २३२ ॥ युग्मम् ॥

गुजराती अनुवाद—

२३१-२३२. मूर्च्छा चाली गई त्याचे पृथ्वीतल पर आलोटता ते बालकने अति स्नेह वडे पोताना खोलाभां लइने नजीकना सरोवरमां स्नान करीने त्यासबाद माया वस्त्रादि धोईने सकांतमां वृक्षनी गहन झाडीमां छेटी।

हिन्दी अनुवाद—

मूर्च्छा समाप्त होने के बाद जमीन पर लोटते बालक को उठाकर अति स्नेह से मैंने अपनी गोंद में लिया, पास के सरोवर में स्नान कर फिर अपने कपड़े आदि धोकर एकान्त में वृक्ष की गहन झाड़ी में बैठ गयी।

गाहा—

तं दिव्वं-मणि-सणाहं उत्तारिय अंगुलीययं हत्था ।
कंठम्मि मए बब्बं सुयस्स एवं भणंतीए ॥ २३३ ॥

संस्कृत छाया—

तं दिव्यमणिसनाथमुत्तार्य अंगुलीयकं हस्ताद् ।
कण्ठे मया बब्बं सुतस्यैवं भणन्त्या ॥ २३३ ॥

गुजराती अनुवाद—

२३३. ते दिव्यमणिथी प्रभावित मुद्रिका हाथमांथी उतारीने पुत्रना कंठमां मे आ प्रमाणे खोलता पहेछावी.

हिन्दी अनुवाद—

फिर उस दिव्य मणि से प्रभावित अंगूठी को हाथ में से उतार कर पुत्र के गले में यह कहते हुए पहना दी।

गाहा—

एयस्स पभावाओ मा मह तणयस्स केवि अंगम्मि ।
पहरंतु भूय-सावय-पिसाय-दुट्ठ-ग्गहाईया ॥ २३४ ॥

संस्कृत छाया—

एतस्य प्रभावाद्वा मम तनयस्य केऽपि अङ्गे ।
प्रहरन्तु भूतश्चापदपिशाचदुष्टप्रहादिकाः ॥ २३४ ॥

गुजराती अनुवाद—

२३४. आना प्रभावथी माचा पुत्रना कोइ पण अंगमां भूत, जंगली पशुओ,
पिशाच के दुष्ट ग्रहो वि. प्रहाट नहीं कटे।

हिन्दी अनुवाद—

इस अंगूठी के प्रभाव से हमारे पुत्र के किसी भी अंग को भूत-पिशाच, जंगली जानवर तथा दुष्ट ग्रह किसी भी प्रकार नुकसान न पहुँचा सकें।

गाहा—

वण-वासिणीओ! निसुणह भो भो वण-देवयाओ । मह वयणं ।
तणय-समेया संपइ सरणं भवईणमल्लीणा ॥ २३५ ॥

संस्कृत छाया—

वनवासिन्यः ! निश्रुणुत भो भो वनदेवताः ! मम वचनम् ।
तनयसमेता सम्प्रति शरणं भवतीनामालीना ॥ २३५ ॥

गुजराती अनुवाद—

२३५. हे वनवासिओ! हे वनदेवता! माळं वचन सांभलो. पुत्र सहित
हुं हम्णां तमाचा शरणे आवेली छुं।

हिन्दी अनुवाद—

हे वनवासियों! हे देवतागण! मेरा वचन सुनो, पुत्र सहित मैं तुम्हारे शरण में आई हूँ।

गाहा—

केसरि-वग्घाईणं मंसाहाराण कूर-सत्ताणं ।

भीसण-अडवी-पडिया रक्खेयव्वा पयत्तेण ॥ २३६ ॥

संस्कृत छाया—

केशरिव्याघ्रादीनां मांसाहाराणां क्रूरसत्त्वानाम् ।

भीषणाटवीपतिता रक्षितव्या प्रयत्नेन ॥ २३६ ॥

गुजराती अनुवाद—

२३६. सिंह वाघ आदि मांसाहाची क्रूरप्राणीओथी आ भयंकर अटवीमां पडेलीं अमाळं प्रयत्न पूर्वक रक्षण करवुं.

हिन्दी अनुवाद—

सिंह, बाघ आदि मांसाहारी क्रूर जीव से इस भयंकर जंगल में प्रयत्न पूर्वक हमारी रक्षा करो।

गाहा—

जइ पुत्त! इमा रयणी होंता मह तम्मि हत्थिणपुरम्मि ।

ता एत्तिय-वेलाए राया वद्धाविओ होंतो ॥ २३७ ॥

संस्कृत छाया—

यदि पुत्र ! इयं रजनी अभविष्यत् मम तस्मिन् हस्तिनापुरे ।

तदा एतावन्वेलायां राजा वद्धार्पितोऽभविष्यत् ॥ २३७ ॥

गुजराती अनुवाद—

२३७. हे पुत्र! जो आ चात्रि ते हस्तिनापुर नगरमां होत तो आटलीवारमां तो राजाने वधामणी प्राप्त थई गई होत!

हिन्दी अनुवाद—

हे पुत्र! आज की रात यदि हम हस्तिनापुर में होते, तो इतने समय में राजा को बधाई संदेश भी प्राप्त हो गया होता।

गाहा—

सयलस्स परियणस्स थ पुरस्स सामंत-मंति-वग्गस्स ।

कस्स व न होज्ज तोसो पुत्तय! तुह जम्म-समयम्मि ॥ २३८ ॥

संस्कृत छाया—

सकलस्य परिजनस्य च पुरस्य सामन्तमन्त्रिवर्गस्य ।

कस्य वा न भवेत्तोषः पुत्र ! तव जन्मसमये ॥ २३८ ॥

गुजराती अनुवाद—

२३८. हे पुत्र! सकल परिजन, नगरना सामंत-मन्त्रीवर्ग आदि कोने ताचा जन्म समये आनंद न थयो होत?

हिन्दी अनुवाद—

सकल परिजनों को, नगर के सामन्त और मन्त्रीवर्ग आदि किसको तुम्हारे जन्म के समय आनन्द नहीं हुआ होता?

गाहा—

दुखिहिय-विहि-विहाणा पडियाए भीसणे य रन्नम्मि ।

जाओ सि मज्झ पुत्तय! करेमि किं मंद-भग्गा हं? ॥ २३९ ॥

संस्कृत छाया—

दुर्विहितविधिविधानात् पतिताया भीषणे चारण्ये ।

जातोऽसि मम पुत्र ! करोमि किं मन्दभाग्याऽहम् ? ॥ २३९ ॥

गुजराती अनुवाद—

२३९. नहीं धारेलुं विधि-भाग्य करनार होवाथी भयंकर जंगलमां आवी पडया त्याचे हे पुत्र! तुं जनब्यो, मंद भाग्यवाली हूं शुं करूं?

हिन्दी अनुवाद—

दुर्भाग्य के कारण मैं इस भयंकर जंगल में आ पड़ी। तब तुम्हारा जन्म हुआ। मैं मंदभाग्यशाली हूँ, क्या करूं?

गाहा—

जायम्मि तुमे पुत्तय! रन्नंपि हु संपयं इमं वसिमं ।

नहुं भयं असेसं उच्छंग-गए तुमे वच्छ! ॥ २४० ॥

संस्कृत छाया—

जाते त्वयि पुत्र ! अरण्यमपि खलु साम्प्रतमिदं वसतिम् ।

नष्टं भयमशेषमुत्सङ्गगते त्वयि वत्स ! ॥ २४० ॥

गुजराती अनुवाद—

२४०. हे पुत्र! ताचो जन्म थये छते आ जंगल पण वसति समान छे. तुं खोलाभां होते छते माचो समस्त भय नष्ट थइ गयो छे.

हिन्दी अनुवाद—

हे पुत्र! यहाँ तुम्हारा जन्म होने के कारण यह जंगल भी बस्ती के समान है। तुम हमारी गोद में आने के बाद मेरा सम्पूर्ण भय समाप्त हो गया है।

गाथा—

तुह मुह-पल्लोयणेणं संपन्न-मणोरहा भविस्सामि ।

रवि-कर-पहयंधयारे जायम्मि दिणम्मि सकयत्था ॥ २४१ ॥

संस्कृत छाया—

तव मुखप्रलोकनेन संपन्नमनोरथा भविष्यामि ।

रविकरप्रहतान्धकारे जाते दिने सकृतार्था ॥ २४१ ॥

गुजराती अनुवाद—

२४१. सूर्यना किरणोथी अंधकार नाश थये छते दिवस उगता ताटा मुखने जोवाथी पूर्ण मनोरथवाली हु कृतार्थ थइ.

हिन्दी अनुवाद—

सूर्य की किरणों से नाश को प्राप्त अंधकार के बाद दिन उगने जैसे तुम्हारा मुख देखकर मेरी सभी इच्छाएं पूरी हो गईं, मैं कृतार्थ हो गयी।

गाथा—

एमाइ भणंतीए पह-सम-खिन्नाए नीसहंगाए ।

वियणा-विगमाओ तहिं समागया मे तहिं निहा ॥ २४२ ॥

संस्कृत छाया—

एवमादि भणन्त्याः पथश्रमखिन्नया निःसहाङ्गया ।

वेदनाविगमात्तत्र समागता मां तदा निद्रा ॥ २४२ ॥

गुजराती अनुवाद—

२४२. आ प्रमाणे खोलतां मार्गना श्रमना खेदथी असमर्थ अंग थवाथी तथा वेदना दूर थवाथी मने त्याटे निद्रा आवी गई।

हिन्दी अनुवाद—

ऐसा कहते हुए मार्ग में किए गए श्रम के कारण चलने में असमर्थ होने के दुःख की वेदना के दूर हो जाने के कारण मुझे नींद आ गयी।

गाथा—

तत्तो खणंतराओ पडिबुद्धा झत्ति मंद-भग्गा हं ।

केणावि हु उल्लवियं एयं सहं सुणेऊणं ॥ २४३ ॥

संस्कृत छाया—

ततः क्षणान्तरतः प्रतिबुद्धा झटिति मन्दभाग्याऽहम् ।
केनाऽपि खलूह्यपितमेतद् शब्दं श्रुत्वा ॥ २४३ ॥

गुजराती अनुवाद—

२४३. (कमलावतीराणी ना पुत्र नु अपहरण)—

कोइना वडे घोलायेला आ शब्दो सांभलीने मंदभाग्यवाली हुं त्यारबाद
क्षणघारमां जागी.

हिन्दी अनुवाद—

किसी के द्वारा बुलाए गये शब्द सुन कर मैं मन्दभाग्यवाली जग गयी।

गाहा—

निउणं जोयंतेणवि पभूय-कालाओ पाव! दिट्ठो सि ।

काहामि वइर-अंतं अणुहव-दुव्विहिय-फलमिण्हि ॥ २४४ ॥

संस्कृत छाया—

निपुणं पश्यताऽपि प्रभूतकालतः पाप ! छटोऽसि ।

करिष्यामि वैरान्तं, अनुभव दुर्विहितफलमिदानीम् ॥ २४४ ॥

गुजराती अनुवाद—

२४४. 'सावधानीपूर्वक जीवा छतां पण हे पापी! तूं घणा समये देखायो
छे, हवे वैरनो अंत करीश. हवे दुष्कृत्यना फळने अनुभव.

हिन्दी अनुवाद—

सावधानी पूर्वक तलाशने पर हे पापी! तूं बहुत समय बाद दिखाई दिया
है। अब मैं दुश्मनी का अन्त करूंगा। तूं अब अपने बुरे कर्मों का फल भुगत!

गाहा—

एयं सहं सोच्चा भीया, को एस एवमुल्लवइ? ।

इय चिंतिय जाव अहं निय-उच्छंगं पलोएमि ॥ २४५ ॥

ता नत्थि तत्थ पुत्तो विचिंतियं ताहि हा! किमेयंति ।

किं कहवि होज्ज पडिओ अहवा केणावि अवहरिओ? ॥ २४६ ॥

किंवा सुमिणं एयं किंवा मइ-विब्भमो महं एसो? ।

एमाइ चिंतयंती गवेसिउं ताहि पारब्धा ॥ २४७ ॥

संस्कृत छाया—

एतत् शब्दं श्रुत्वा भीता क एष एवमुल्लपति ? ।

इति चिन्तयित्वा यावदहं निजोत्सङ्गं प्रलोकयामि ॥ २४५ ॥

तावन्नास्ति तत्र पुत्रः विचिन्तितं तदा हा ! किमेतदिति ।

किं कथमपि भवेत् पतितोऽथवा केनाऽप्यपहतः ? ॥ २४६ ॥

किं वा स्वप्नमेतत् किं वा मतिविभ्रमो ममैषः ? ।

एवमादि चिन्तयन्ती गवेषयितुं तदा प्रारब्धा ॥ २४७ ॥

तिसृभिः कुलकम्

गुजराती अनुवाद—

२४५-२४६. आ शब्दो सांभलीने हुं डरी गई, 'आ कोण चोले छे? आ प्रमाणे विचारिने ज्यां हुं मारा खोलाने जोउं छुं त्यां तो पुढा न हतो, त्यारे विचार्युं अरे! आ शुं थयुं? शुं क्यांक ते पुत्र पडी गयो? अथवा तो शुं कीइ ना वडे अपहरण करायुं? शुं आ स्वप्न छे आ माणे मतिभ्रम छे? इत्यादि विचारती बालकने शोधवानी शरुआत करी।

हिन्दी अनुवाद—

उसके यह शब्द सुनकर मैं डर गयी यह कौन बोल रहा है? यह विचार करती हुई जब मैंने अपनी गोद देखी तो मेरा पुत्र मेरी गोद में नहीं था। मैंने सोचा यह क्या हो गया, क्या पुत्र कहीं गिर गया? या किसी ने उसका अपहरण कर लिया? या फिर कहीं यह स्वप्न मेरा मतिभ्रम तो नहीं है? ऐसा सोचते हुए बालक को खोजने लगी।

गाहा—

इओ तओ तत्थ गवेसयंती सुयं महा-राय! अपाउणंती ।

सिरम्मि वज्जेणव ताडिया हं धसत्ति मुच्छाइ वसं गयत्ति ॥ २४८ ॥

संस्कृत छाया—

इतस्ततस्तत्र गवेषयन्ती सुतं महाराज ! अप्राप्नुवन्ति ।

शिरसि वज्रेणैव ताडिताऽहं धस इति मूर्च्छया वशं गतेति ॥ २४८ ॥

गुजराती अनुवाद—

२४८. आम-तेम पुत्रने शोधवा छातां पुत्रने न जोती तेवी हुं हे महाराजा! मस्तक पर जाणे वज्र वडे हणासली 'धस' स प्रमाणे मूर्छ वश थई।

हिन्दी अनुवाद—

इधर-उधर पुत्र को तलाशने पर भी उसे न पाकर हे राजन्! ऐसा लगा जैसे मेरे मस्तक पर किसी ने वज्र से प्रहार किया है। मैं घायल 'धस' करके मूर्च्छित हो गयी।

गाहा—

साहु-धणोसर-विरइय-सुबोह-गाहा-समूह-रम्माए ।

रागागि-दोस-विसहर-पसमण-जल-मंत-भूयाए ॥ २४९ ॥

एसोवि परिसमप्यइ कमलावइ-पुत्त-हरण-नामोत्ति ।

सुरसुंदरि-नामाए कहाइ दसमो परिच्छेओ ॥ २५० ॥

संस्कृत छाया—

साधुधनेश्वरविरचितसुबोधगाथासमूहरम्यायाः ।

रागाग्निद्वेषविषधरप्रशमनजलमन्त्रभूतायाः ॥ २४९ ॥

एषोऽपि परिसमाप्यते कमलावतीपुत्रहरणनामेति ।

सुरसुन्दरिनाम्याः कथायाः दशमः परिच्छेदः ॥ २५० ॥

गुजराती अनुवाद—

२४९-२५०. साधु धनेश्वर वड़े रचायेली सुबोध गाथाना समूह वड़े रम्य, रागाग्नि तेम ज द्वेष रूप विषधरने शांत करवा पाणी तेमज मंत्ररूप... 'कमलावती पुत्रहरण' नामनो सुरसुन्दरि नामनी कथानो आ दशमो परिच्छेद समाप्त थयो...

इति दशमः परिच्छेदः

हिन्दी अनुवाद—

साधु धनेश्वर द्वारा रचित सुबोध गाथाओं की समूह रूप सुन्दर रागाग्नि और द्वेष रूपी विषधर को शान्त करने वाले जल और मन्त्र रूप कमलावती पुत्रहरण नामक सुरसुन्दरी कथा का दसवां परिच्छेद समाप्त हुआ।

॥दशमः परिच्छेद समाप्तः ॥



ऋद्धि-ॐ ह्रीं अहं णमो अरिहंताणं णमो जिणाणं ॐ हूं ह्रीं ह्रूं ह्रः
 अ सि आ उ सा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झौं झौं स्वाहा ।

मंत्र-ॐ हूं ह्रीं ह्रूं श्रीं क्लीं ब्लूं क्रौं ॐ ह्रीं नमः स्वाहा ।

प्रभाव--सारी विघ्न-बाधाएँ दूर होती हैं ।

Removal of all obstacles.